वर्ष ३८] * * * [अङ्क २

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची.

कल्याण, सौर चैत्र २०२०, मार्च १९६४

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५६
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
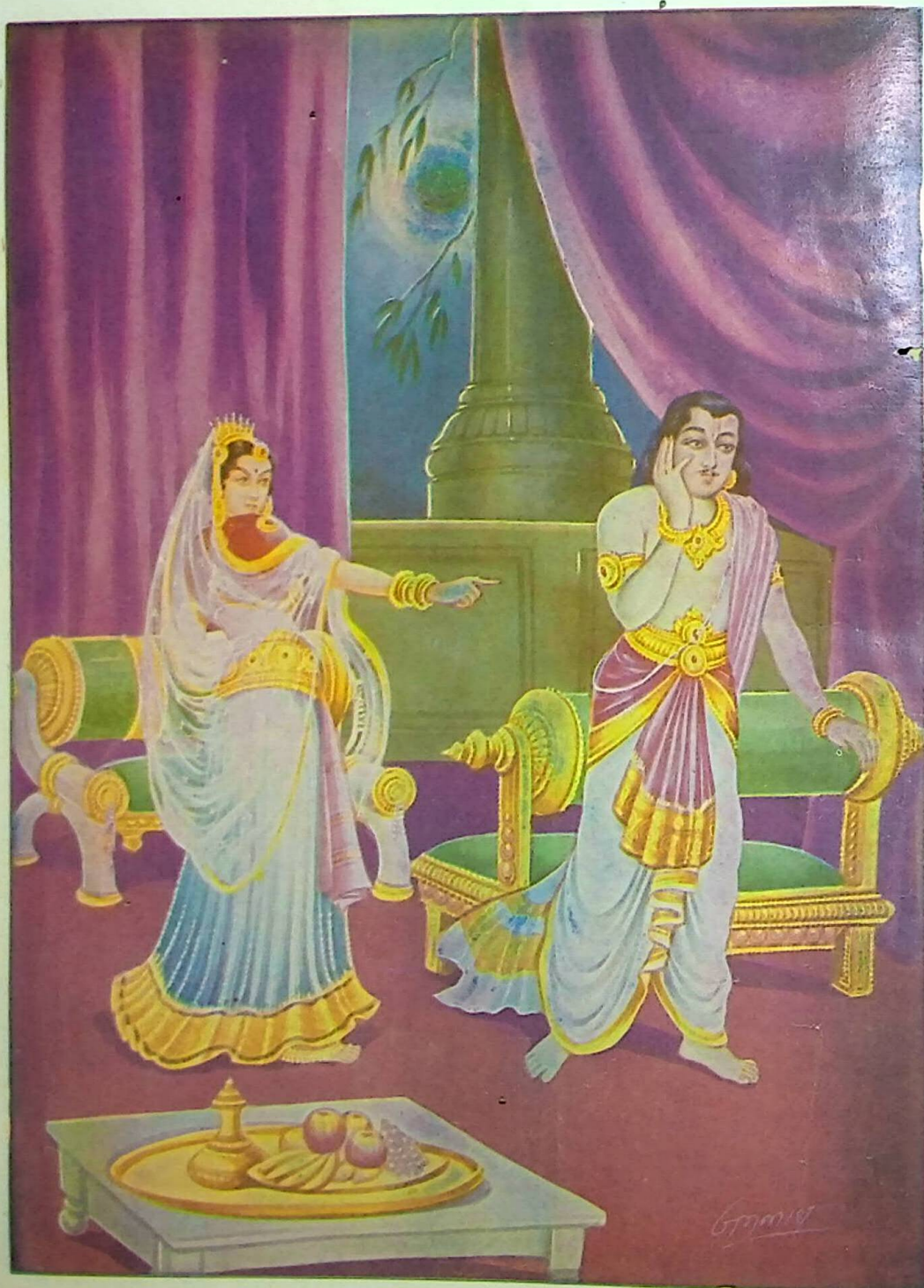
अर्जुनका विशुद्ध आचरण और उर्वशीका शापरूप वरदान
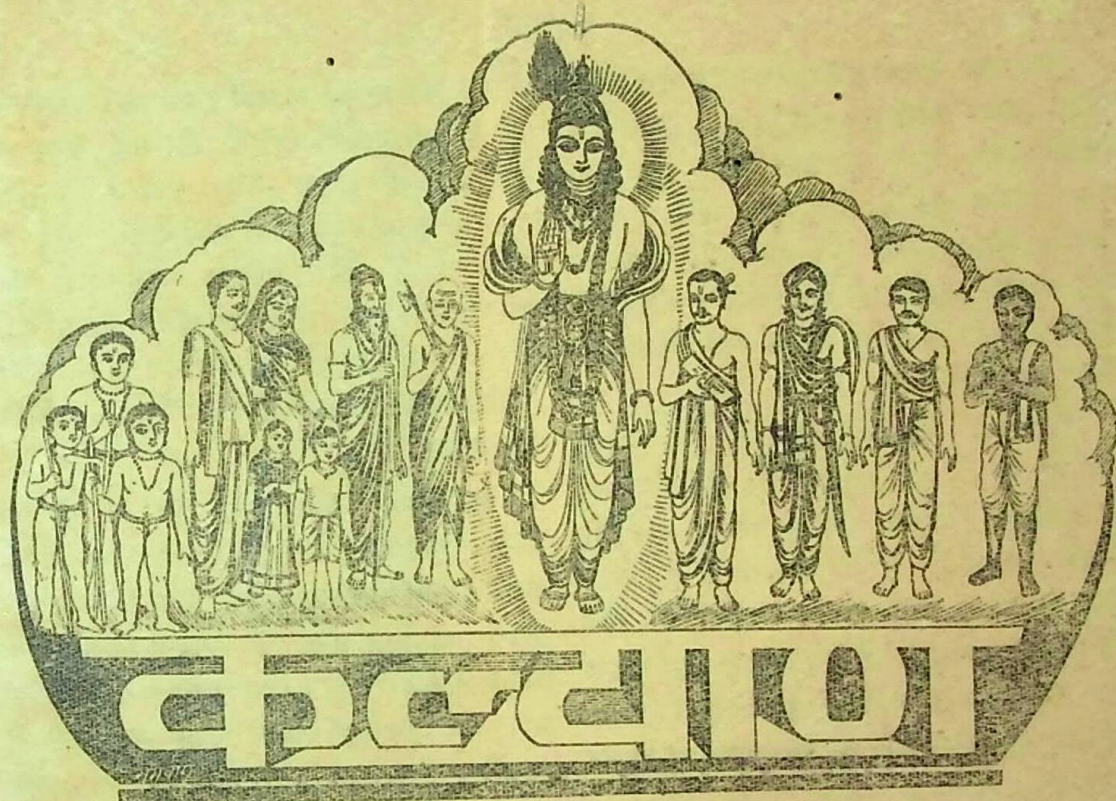
सर्वारिष्टहरं सुखैकरमणं शान्त्यास्पदं भक्तिदं स्मृत्या ब्रह्मपदप्रदं स्वरसदं प्रेमास्पदं शाश्वतम् ।
मेघश्यामशरीरमच्युतपदं पीताम्बरं सुन्दरं श्रीकृष्णं सततं व्रजामि शरणं कायेन वाचा धिया ॥

वर्ष ३८ } गोरखपुर, सौर चैत्र २०२०, मार्च १९६४ { संख्या ३ पूर्ण संख्या ४४८

अर्जुनका विशुद्ध आचरण और उर्वशीका शापरूप वरदान

सुर-अप्सरा उर्वशीने आ माँगा अर्जुनसे रति-दान ।
सहम गये सुनते ही, आँखें मुँदीं, हुए मानो बेभान ॥
बोले, 'तुम हो माता मेरी कुन्ती-माद्री-शची समान ।
पूज्यभावसे देखा था मैंने निज-कुलकी जननी जान ॥'
शाप दिया हो क्षुब्ध मनोभव-पीड़ित उसने अप्रिय मान ।
नर्तक, षण्ढ बनोगे तुम जा अबलाओंमें खो सम्मान ॥
एक वर्ष अज्ञातवासमें हुआ शापका शुभ भुगतान ।
सहज सुअवसर मिला उन्हें छिपनेका, बना शाप वरदान ॥

याद रक्खो—संसारमें सुख सभी चाहते हैं परंतु किसी-को पूर्ण अखण्ड स्थायी सुख नहीं मिलता। सुखके लिये भटकते-भटकते जीवन बीत जाता है और सुख आगे-से-आगे सरकता जाता है। इसका कारण यही है कि मनुष्य जिन प्राकृतिक वस्तुओंसे सुख चाहता है, उनमें वह पूर्ण अखण्ड स्थायी सुख है ही नहीं। अतएव यदि तुम सुख चाहते हो तो पूर्ण अखण्ड नित्य सत्य सुख-स्वरूप भगवान्‌को भजो।

याद रक्खो—किसीको कोई वस्तु वहींसे मिलेगी, जहाँ वह होगी। हम बालूमेंसे तेल निकालना चाहें या जलमेंसे घी निकालना चाहें तो निराश ही होंगे; क्योंकि न बालूमें तेल है और न जलमें घी है। तेलके लिये तिल-सरसों आदि तिलहन पदार्थोंकी और घीके लिये दूधकी आवश्यकता होगी। इसी प्रकार पूर्ण अखण्ड नित्य सुख एकमात्र भगवान्‌में ही है; वे ही अनन्त सुखसागर हैं; अतएव यदि तुम सुख चाहते हो तो उन भगवान्‌को भजो।

याद रक्खो—भगवान्‌को भजनेका अर्थ यह है कि जिस प्रकार भोगोंकी इच्छासे तुमने भोगोंको आत्म-समर्पण कर रक्खा है, उसी प्रकार भगवान्‌को आत्म-समर्पण करो। भोगोंमें जैसी सहज स्वाभाविक प्रीति है, वैसी ही सहज स्वाभाविक प्रीति भगवान्‌में करो।

याद रक्खो—भगवान्‌के समान अकारण प्रीति करनेवाला सुहृद्, भली-बुरी सभी स्थितियोंमें आश्रय देकर अभय करनेवाला दयालु और कोई भी नहीं है। भगवान् सुहृद् होनेके साथ ही सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ भी हैं। उनके प्रति आत्मसमर्पण करनेपर उनके प्रत्येक विधानमें उनकी परम मङ्गलमयताके दर्शन होंगे, उनका दिव्य स्पर्श प्राप्त होगा और इससे सारे दुःखोंका अवसान हो जायगा।

याद रक्खो—दुःख-सुख किसी भी परिस्थितिमें, प्राणीमें या पदार्थमें नहीं है; वह है हमारे मनकी प्रतिकूल और अनुकूल भावनामें। हम जहाँ प्रतिकूलता पाते हैं, वहीं दुखी हो जाते हैं; और जहाँ अनुकूलता देखते हैं, वहाँ सुखका अनुभव करते हैं। ये दुःख-सुख प्रतिकूलता-अनुकूलताकी कमी-बेशीके साथ ही घटते-बढ़ते हैं और प्रतिकूलता-अनुकूलताका भाव बदल जाने या न रहनेपर ये बदल जाते या नष्ट हो जाते हैं। आज जो वस्तु तुम्हें प्रतिकूल भाव होनेके कारण दुःखदायिनी दीखती हैं, वे ही कल अनुकूल भाव होनेपर सुख देनेवाली बन जायँगी।

याद रक्खो—श्रीभगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण करनेपर तुम्हें सर्वत्र भगवान्‌की मङ्गलमयी, आनन्दमयी कृपाके दर्शन होंगे, उनके प्रत्येक विधानमें—जो फल-रूपमें तुम्हें प्राप्त होता है—मङ्गलमयताके कारण अनुकूलताके दर्शन होंगे। प्रतिकूलता कहीं रहेगी ही नहीं और तुम हर हालतमें सुखी—परम सुखी हो जाओगे।

याद रक्खो—जगत् द्वन्द्वमय है। सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय शुभ-अशुभ आदि परस्पर-विरोधी दो भावोंसे परिपूर्ण धारणा ही जगत् है। भगवान् एक हैं, सम हैं, सारे द्वन्द्वोंमें वे एक ही पूर्ण हैं, सारे द्वन्द्व उन्हींके आधारपर कल्पित हैं और सारे द्वन्द्वोंमें उन्हींका आत्मप्रकाश है या सारे द्वन्द्व उन्हींकी माया अथवा लीला हैं। हैं एकमात्र वे ही। अतएव उन्हें आत्मसमर्पण करनेपर इन द्वन्द्वोंके स्थानपर भगवान् या भगवान्‌की अभिन्नस्वरूपा लीलाके दर्शन होंगे। सुख-दुःख दोनोंका ही सर्वथा अभाव हो जायगा और तुम उस आत्यन्तिक सुखको—जो द्वन्द्वातीत और भगवत्स्वरूप है—प्राप्त हो जाओगे। तुम्हारा जीवन धन्य तथा सफल हो जायगा। अतएव तुम ऐसा पूर्ण अखण्ड और नित्य सुख चाहते हो तो सर्वात्मना भगवान्‌को ही भजो।

'शिव'

निदिध्यासन

(लेखक—ब्र० पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुरामजी शर्मा)

[अनुवादक—श्रीसुरेश एम्० भट]

आत्मासे अभिन्न, एक, अद्वितीय और सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्मका किसी भी प्रकारसे संशयरहित, दृढ़तापूर्वक शुद्ध मन और परम प्रेमसे सतत विचार और सतत ध्यान करना—'निदिध्यासन' है। जिन्होंने शास्त्रोक्त निष्काम कर्म और सद्गुरुकी पूर्ण श्रद्धायुक्त सेवासे अपने अन्तः-करणको पवित्र कर लिया है, सद्गुरुका अथवा सगुण ब्रह्मका आदरपूर्वक दीर्घकाल निरन्तर ध्यान करके अपने अन्तःकरणकी दीर्घकालीन चञ्चलताको अधिकांशमें मिटा दिया है; और श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ समर्थ सद्गुरुकी विधिवत् शरण ग्रहण करके उनके द्वारा वेदान्तका यथाविधि श्रवण-मनन किया है, वे ही निदिध्यासन या निर्गुण ब्रह्मध्यानके मुख्य अधिकारी हैं। सत्त्वादि तीनों गुणों तथा उनके समस्त धर्मोंसे रहित जो सर्वव्यापक चेतन है उसे निर्गुण ब्रह्म, ब्रह्म या परब्रह्म कहते हैं।

वेदान्तशास्त्रमें महावाक्योंद्वारा ब्रह्मको अन्तरात्माके रूपमें निरूपित किया है; किंतु विचारहीन और मन्द-बुद्धि मनुष्य देहादिमें जो आत्मपनकी बुद्धि हो रही है उसका त्याग नहीं कर सकते। इसीलिये वे ब्रह्मको अन्तरात्मारूपसे अनुभव करनेमें असमर्थ होते हैं।

निर्दोष-हृदययुक्त श्रद्धालु मुमुक्षुको सद्गुरुके उपदेशसे स्थूल आदि तीनों शरीरोंसे परे जो आत्मा है, वह ब्रह्मस्वरूप है, ऐसा परोक्षज्ञान होता है। इसके बाद, आदरपूर्वक इसी बातका बार-बार विचार करनेसे—निदिध्यासनसे—या किसी भी प्रकारकी निर्गुणोपासनासे प्रत्यगभिन्न ब्रह्मका दृढ़ साक्षात्कार होता है। जबतक प्रत्यगभिन्न ब्रह्मका दृढ़ साक्षात्कार न हो, तबतक मुमुक्षु-को ब्रह्मविचार—निदिध्यासन किंवा निर्गुणोपासना करते रहना चाहिये। जिस प्रकार आम्रादि वृक्ष समयका परिपाक होनेपर फल देते हैं, इसी प्रकार ब्रह्मविचार, निदिध्यासन और निर्गुणोपासनाका भी शनैः-शनैः परिपक्व होनेपर फल प्राप्त होता है।

केवल बातोंसे मुमुक्षुको सूक्ष्मतम ब्रह्मका साक्षात्कार होना असम्भव है। वैराग्यसे अन्तःकरणकी स्थूलताके दूर होने और निदिध्यासनरूप अन्तःकरणकी एकाग्रतासे अचञ्चलता प्राप्त करनेपर मुमुक्षुको ब्रह्मका दृढ साक्षात्कार होता है।

जो मुमुक्षु मन्दबुद्धिवश या ब्रह्मवेत्ता सद्गुरु और सत्-शास्त्रकी अप्राप्तिसे ब्रह्मका विचार करनेमें असमर्थ हों, उन्हें निर्गुणोपासनाके ज्ञाता सद्गुरुके द्वारा निर्गुणोपासना-का स्वरूप समझकर निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये। अन्तःकरणकी वृत्तिको निर्गुण ब्रह्ममें एकाग्र करते रहना चाहिये।

अपने प्रारब्धका उपभोग करनेपर भी उत्तम प्रकारकी श्रद्धा होनेसे मुमुक्षु निर्गुण ब्रह्मकी उपासना सुखपूर्वक कर सकता है। निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करनेवाला मुमुक्षु प्राप्त व्यवहारमें प्रवृत्त रहनेपर भी अपने परमप्रिय निर्गुण ब्रह्मका अन्तःकरणसे अनुसंधान और इस अनु-संधानसे उत्पन्न परम सुखका आस्वादन किया करता है।

निर्गुण ध्यान अथवा निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करने-वाले साधकके लिये अपने अन्तःकरणकी दुर्वासनाओंका शुभ वासनाओंके द्वारा विनाश करनेका कार्य भी करना आवश्यक है।

निर्गुण ब्रह्मकी उपासनासे मुमुक्षुके अन्तःकरणकी पवित्रता और एकाग्रताकी वृद्धि होती है और अन्तःकरण शनैः-शनैः ब्रह्ममें विराम पाता है। अन्तःकरण अन्य

विषयके चिन्तनका त्याग करता है। ऐसी योग्यतासम्पन्न चित्त 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्योंके विचारसे आत्मासे अभिन्न ब्रह्मका साक्षात्कार करनेमें समर्थ होता है।

निदिध्यासन करनेवाले मुमुक्षुको ब्रह्मका स्वरूप सद्गुरु और सत्-शास्त्रोंके द्वारा समझकर अपनी बुद्धिको ब्रह्ममें आरूढ करनेके लिये आदरपूर्वक एकान्तमें विचार करना चाहिये। इसी प्रयत्नसे आत्मासे अभिन्न ब्रह्मका दृढ़ साक्षात्कार होता है। निदिध्यासनसे मुमुक्षुके अन्तःकरणमें शुद्ध सत्त्वगुणकी वृद्धि होनेपर तथा आत्म-साक्षात्कार होनेपर, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और चार अन्तःकरण—सभी परम पवित्र, परम शान्त और परम तृप्त होते हैं। ऐसी स्थिति प्राप्त होनेपर पुरुषके अन्तःकरणकी वृत्ति निरावरण होकर भीतर-बाहर सर्वत्र सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मका दर्शन करनेमें समर्थ होती है।

लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद—ये चार दोष निदिध्यासनके परिपाकमें विघ्न करनेवाले हैं। अन्तः-करणमें तमोगुणकी वृद्धिसे इनकी स्थूलता होनेपर अन्तःकरण ब्रह्मविचार या ब्रह्मध्यानमें एकाग्र न रहकर निद्रा-जैसी स्थिति प्राप्त करता है, इसे 'लय दोष' कहते हैं। ब्रह्मविचारमें या ब्रह्मध्यानमें संलग्न चित्त इस कर्तव्यमें संलग्न न रहकर अन्य शुभाशुभ विषयोंमें लग जाता है तो उसे 'विक्षेप दोष' कहते हैं। अन्तः-करणमें राग-द्वेषादिके तीव्र संस्कार अन्तःकरणको ब्रह्म-विचार या ब्रह्मध्यानमें संलग्न नहीं रहने देते और उसे जड बना देते हैं—इसे 'कषाय दोष' कहते हैं। साकार वस्तुके ध्यानमें या निदिध्यासनकी प्रारम्भावस्था किंवा मध्यमावस्थामें प्रीति उत्पन्न होनेपर अन्तःकरणका निदिध्यासनके परिपाकसे जो ब्रह्मसाक्षात्कार तक न पहुँचना है, इसे 'रसास्वाद दोष' कहते हैं। मुमुक्षुको इन चारों दोषोंसे बचना चाहिये।

निदिध्यासनका अभ्यास करनेवाले मुमुक्षुको शृङ्गार-रसप्रधान काव्य, नाटक, वार्ता आदि—जो संसारमें सत्यपन और देहादिमें आत्मपनकी बुद्धि उत्पन्न करते हैं—को कभी पढ़ना-सुनना नहीं चाहिये। आजीविका-के लिये खेती, व्यापार, नौकरी आदि अन्य व्यवसाय करनेपर भी उपर्युक्त दो प्रकारकी बुद्धिका उदय न हो, इसके लिये सावधान रहना चाहिये। भोजन-पानादि व्यवहार निदिध्यासनमें हानिकारक नहीं हैं। वे तो देहनिर्वाहमें हेतुरूप हैं; इसलिये उनका त्याग करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

स्थूल शरीरके भीतर स्थूल-शरीरका पोषण करने-वाला, उसे बल प्रदान करनेवाला ज्ञान-धर्मयुक्त सूक्ष्म-शरीर है। इस सूक्ष्म शरीरके भीतर सूक्ष्म-शरीरकी ज्ञान-शक्ति एवं क्रियाशक्तिका पोषण करनेवाला अति विरल द्रव्यरूप कारण-शरीर है। उस कारण शरीरका आधार-भूत जो अक्रिय और असङ्ग तत्त्व है, वही आत्मा है। यह आत्मा ही मेरा और जगत्‌का वास्तविक स्वरूप है—ऐसा अनुभव मुमुक्षुको निदिध्यासनका परिपाक होनेपर होता है। अन्तरात्मासे अभिन्न ब्रह्मके ज्ञानसे वह सर्वात्मभावको प्राप्त होता है।

परमात्मामें, सद्गुरुमें, ब्रह्मवेत्ताओंमें तथा वेदान्त-शास्त्रमें परम प्रीति रखकर, देहादिमेंसे आत्मपनकी बुद्धिको और दृश्य जगत्‌मेंसे सत्यपनकी बुद्धिको विवेक-पूर्वक शिथिल करके, किसी भी प्रकारके निदिध्यासनके विघ्नसे पराजित न होकर, जो मुमुक्षु परम आदरके साथ सतत निदिध्यासन करता है, वह अपने निदिध्यासनके परिपाकसे अज्ञानकी निवृत्ति करके सर्वव्यापक सच्चिदा-नन्द ब्रह्मका स्पष्ट साक्षात्कार करनेका सौभाग्य प्राप्त करता है; और उसी क्षणसे वह मुमुक्षु मिटकर 'ब्रह्मविद्' बन जाता है। ऐसा मनुष्य सदाके लिये जन्मादि संसारसे मुक्त हो जाता है।

सारा समय परमोपयोगी बनानेका साधन

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्यके समयके तीन विभाग माने जा सकते हैं—१ साधनकाल, २ व्यवहारकाल, ३ शयनकाल। इनमेंसे साधनकालको लोग सात्त्विक, व्यवहारकालको राजस और शयनकालको तामस मानते हैं। किंतु कल्याणके इच्छुक मनुष्योंको तो तीनों कालोंको ही परम सात्त्विक बनाना चाहिये। हमलोगोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि हमारा सारा-का-सारा समय उत्तम-से-उत्तम कार्यमें लगे। दूसरे लोगोंकी दृष्टिमें चाहे हमारे ये तीनों काल अलग-अलग प्रतीत हों, किंतु वास्तवमें हमारा सारा समय एक परमात्मामें ही लगा रहना चाहिये।

यह मनुष्य-शरीर अपने उद्धारके लिये मिला है या यों कहें कि परमात्माकी प्राप्तिके लिये मिला है। अतः जिससे परमात्माकी प्राप्ति शीघ्रातिशीघ्र हो, उसी काममें हमारा सारा समय बीतना चाहिये। हर समय हमारा परम साधन ही होता रहे। दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, निद्रा, आलस्य और प्रमादमें एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाना चाहिये; क्योंकि ये सभी तामस हैं। ऐश-आराम, स्वाद-शौक, शृङ्गार, भोग-विलास, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा, कञ्चन, कामिनी, सम्पत्ति—इन सबमें जो ममता, आसक्ति, कामना आदि हैं, ये सभी राजस हैं। अतः इनके संसर्गमें भी अपना समय व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये। बल्कि ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सदाचार और सद्गुणोंके सेवनमें ही समय जाना चाहिये। एकान्तके साधनकाल, व्यवहारकाल और शयनकाल—सभी कालोंका सुधार विशेषरूपसे करना चाहिये।

१. एकान्तमें बैठकर अपने अधिकारके अनुसार पूजा-पाठ, जप-ध्यान, स्तुति-प्रार्थना, संध्या-गायत्री, स्वाध्याय आदि जो कुछ भी साधन किया जाय, उसके अर्थ और भावको समझते हुए मन लगाकर श्रद्धा, विश्वास और प्रेमपूर्वक गुप्त और निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर करना चाहिये।

२. चलते-उठते-बैठते, खाते-पीते, न्यायोचित व्यवहार करते समय, मनसे भगवान्‌के चरित्रोंको याद करते हुए और उनका अनुकरण करते हुए एवं श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे भगवान्‌के नाम, रूप तथा गुण-प्रभावका चिन्तन करते हुए उनकी प्रसन्नताके अनुकूल ही सब व्यवहार करना चाहिये।

३. रात्रिमें शयनके समय सांसारिक संकल्पोंके प्रवाह-से रहित होकर मनमें भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको समझते हुए, भगवान्‌के गुण, प्रभाव, नाम, रूपके निष्कामभाव-पूर्वक चिन्तनका प्रवाह बहाते हुए ही शयन करना चाहिये।

मनकी आदत बिगड़ी हुई है। यह स्वाभाविक ही राजस और तामस भावों और पदार्थोंका चिन्तन करने लगता है। अतः इसकी हर समय चौकसी (सँभाल) रखनी चाहिये। जैसे कोई सालभरका छोटा बच्चा चाकू, कैंची आदि कोई भी पदार्थ हाथमें आ जाता है तो उसको पकड़ लेता है; क्योंकि वह उसके परिणामको समझता नहीं है। किंतु माता उसको भय दिखलाकर, लोभ देकर या प्रेमसे समझाकर उससे कैंची, चाकू आदि छीन लेती है। इसी प्रकार साधक अपने मनको इस लोक और परलोकके दुःखोंका भय दिखलाकर, 'भक्ति, ज्ञान, वैराग्य रसमय—अमृतमय है' ऐसा लोभ देकर या विवेकपूर्वक समझाकर राजस और तामस क्रियाओं, पदार्थों और भावोंसे हटा ले एवं परम कल्याणदायक,

परम सात्त्विक उत्तम गुण, क्रिया, पदार्थ और भाव आदिमें लगावे ।

कोई भी घटना, पदार्थ और परिस्थिति अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल या प्रतिकूल प्राप्त हो तो उसमें हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि विकारोंसे रहित रहना चाहिये । किसी भी घटना, पदार्थ या परिस्थिति-के प्राप्त होनेपर ज्ञानयोगकी दृष्टिसे तो उसको स्वप्नवत् माने, भक्तिकी दृष्टिसे उसको भगवान्‌का विधान या लीला माने और कर्मयोगकी दृष्टिसे उसको अपने पूर्वकृत कर्मों-का फलरूप प्रारब्ध माने; एवं ऐसा मानकर सदा निर्विकार रहे । किंतु यदि अपने साधनके विरुद्ध कोई पदार्थ या परिस्थिति प्राप्त हो जाय तो उसका त्यागपूर्वक सदुपयोग करना चाहिये । जैसे अर्जुनने इन्द्रकी भेजी हुई उर्वशी अप्सराके काम-प्रस्तावका त्याग कर दिया था।

जिस समय अर्जुन इन्द्रपुरीमें रहकर अस्त्र-विद्या और गान्धर्व-विद्या सीख रहे थे, एक दिन इन्द्रने सभामें अर्जुनको उर्वशीकी ओर निर्निमेष नेत्रोंसे देखते हुए पाया था; अतः अर्जुनको उर्वशीके प्रति आसक्त जानकर उन्होंने रात्रिके समय उनकी सेवाके लिये वहाँकी उस सर्वोच्च अप्सरा उर्वशीको उनके पास भेजा । उर्वशी अर्जुनके रूप और गुणोंपर पहलेसे ही मुग्ध थी । वह इन्द्रकी आज्ञासे खूब सज-धजकर रात्रिमें अर्जुनके पास गयी । अर्जुन उर्वशीको रात्रिमें अकेले इस प्रकार निःसंकोचभावसे अपने पास आयी देख सहम गये । उन्होंने शीलवश अपने नेत्र बंद कर लिये और उर्वशी-को माताकी भाँति प्रणाम किया । उर्वशी यह देखकर दंग रह गयी । उसको अर्जुनसे इस प्रकारके व्यवहारकी आशा नहीं थी । उसने अर्जुनके प्रति अपना मनोभाव स्पष्ट प्रकट किया । तब अर्जुन अत्यन्त लज्जित हो गये और हाथोंसे दोनों कान मूँदकर बोले—'देवि ! तुम जैसी बात कह रही हो, उसे सुनना भी मेरे लिये बड़े दुःखका विषय है । मैंने जो देवसभामें तुम्हारी ओर एकटक दृष्टिसे देखा था उसका एक विशेष कारण था । वह यह कि तुम ही हमारे पूरुवंशकी जननी हो—इस पूज्यभावको लेकर ही मैंने वहाँ तुम्हें देखा था । अनघे ! मेरी दृष्टिमें कुन्ती, माद्री और शचीका जो स्थान है वही तुम्हारा भी है । तुम पूरुवंशकी जननी होनेके कारण आज मेरे लिये परम गुरु-स्वरूप हो । वरवर्णिनि ! मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर तुम्हारी शरण हूँ । तुम लौट जाओ । मेरी दृष्टिमें तुम माताके समान पूजनीया हो और तुम्हें पुत्रके समान मानकर मेरी रक्षा करनी चाहिये ।'*

यह सुनकर उर्वशी क्रोधित हो गयी और अर्जुनको शाप देते हुए बोली—'अर्जुन ! देवराज इन्द्रके कहनेसे मैं तुम्हारे घरपर आयी और कामबाणसे घायल हो रही हूँ; फिर भी तुम मेरा आदर नहीं करते । अतः तुम्हें स्त्रियोंके बीचमें सम्मानरहित होकर नर्तकी बनकर रहना पड़ेगा । तुम नपुंसक कहलाओगे और हिंजड़ोंके समान विचरण करोगे ।'

जब इन्द्रको यह बात मालूम हुई तब उन्होंने अर्जुनकी प्रशंसा की और कहा—'यह शाप तुमको वरदानका काम देगा । अज्ञातवासके समय तुम्हारे छिपनेमें सहायक होगा । उसके बाद तुम्हें पुनः पुरुषत्व प्राप्त हो जायगा ।'

ध्यान देना चाहिये कि अर्जुनने उर्वशीका शाप तो स्वीकार कर लिया, किंतु उसके प्रस्तावको स्वीकार नहीं किया । अर्जुनका यह ब्रह्मचर्यपालन और त्यागका व्यवहार बहुत ही उच्च आदर्श है ।

* यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममानघे ।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी ॥
गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि ।
त्वं हि मे मातृवत् पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत् त्वया ॥
(महा० वन० ४६ । ४६-४७)

हमलोगोंको इस प्रकारकी घटना प्राप्त होनेपर उसे भगवान्‌की भेजी हुई समझकर अर्जुनकी भाँति उसका त्यागपूर्वक सदुपयोग करना चाहिये। यद्यपि भगवान् अनुकूल या प्रतिकूल पदार्थ भेजकर जो कुछ करते हैं हमारे हितके लिये ही करते हैं; किंतु वे हमारी परीक्षा भी लेते रहते हैं। जैसे अध्यापक विद्यार्थीकी योग्यताको जानता हुआ भी उसकी उन्नतिके लिये उसकी परीक्षा लेता रहता है वैसे ही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भगवान् साधकके हितके उद्देश्यसे उसको साधनमें दृढ़ बनानेके लिये अनुकूल-प्रतिकूल घटना और पदार्थ भेजकर परीक्षा लेते रहते हैं। उन सबमें साधकको विकाररहित रहना चाहिये।

परेच्छा या अनिच्छासे मनके अनुकूल या प्रतिकूल कोई भी घटना या पदार्थ प्राप्त हो तो उसे भगवान्‌का विधान या प्रारब्ध मानकर संतुष्ट होना चाहिये, विचलित नहीं होना चाहिये और यदि वह शास्त्रविपरीत हो तो उसका नीतिके अनुसार तिरस्कार कर सकते हैं; क्योंकि वे जो पदार्थ हमें प्राप्त हो रहे हैं उनमें जब भगवान्‌का विधान है तो हमारे हृदयमें जो शास्त्रविरुद्ध अनुचित पदार्थके लिये विरोध करनेका भाव आता है, वह भी तो भगवान्‌की ही प्रेरणा है। जैसे अर्जुनको भगवान् जगह-जगह युद्ध करनेकी आज्ञा देते हैं; किंतु उस आज्ञाके साथ ही समभाव रखनेके लिये भी प्रेरणा करते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(गीता २। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

अनुकूल पदार्थ या घटनाके प्राप्त होनेपर हर्षित होना, उसमें प्रीति करना भी विकार है और प्रतिकूल घटनामें तो द्वेष, वैर, भय, ईर्ष्या, शोक आदि अनेक प्रकारके विकार होते ही रहते हैं; किंतु जो इन सबमें विकाररहित रहे, वही सर्वोत्तम है। जैसे भक्त प्रह्लादको मारनेके लिये उनके पिता हिरण्यकशिपुने उनपर अनेक अत्याचार किये—बड़े-बड़े मतवाले हाथियोंसे कुचलवाया, विषधर सर्पोंसे डँसवाया, पुरोहितोंसे कृत्याका प्रयोग करवाया, पहाड़की चोटीसे नीचे डलवाया, शम्बरासुरसे अनेक प्रकारकी मायाका प्रयोग करवाया, अँधेरी कोठरियोंमें बंद करवाया, विष पिलाया, खाना बंद करवा दिया; बर्फीली जगह, दहकती हुई आग और समुद्रमें बारी-बारीसे डलवाया, परंतु किसी भी उपायसे वह प्रह्लादको मार न सका। उसके सारे प्रहार निष्फल हो गये। भक्त प्रह्लादके चित्तमें भी उन सबका कोई असर नहीं हुआ। वे तो उन सबमें निर्विकार ही रहे; क्योंकि उनका सबमें भगवद्भाव था। बल्कि जब पुरोहितोंने उन्हें मारनेके लिये कृत्या उत्पन्न करके उनपर प्रयोग किया और वह कृत्या उनको मारनेमें समर्थ न हो सकी, तब उसने उन पुरोहितोंको ही मार डाला। यह देखकर दयापरवश हो प्रह्लादजी भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे—

यथा सर्वगतं विष्णुं मन्यमानोऽनपायिनम्।
चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्वेते पुरोहिताः॥
ये हन्तुमागता दत्तं यैर्विषं यैर्हुताशनः।
यैर्दिग्गजैरहं क्षुण्णो दष्टः सर्पैश्च यैरपि॥
तेष्वहं मित्रभावेन समः पापोऽस्मि न क्वचित्।
यथा तेनाद्य सत्येन जीवन्त्वसुरयाजकाः॥
(श्रीविष्णुपुराण १। १८। ४१—४३)

'प्रभो! यदि मैं सर्वव्यापी और अक्षय श्रीविष्णु-भगवान्‌को अपने विपक्षियोंमें भी देखता हूँ तो ये पुरोहितगण जीवित हो जायँ। जो लोग मुझे मारनेके लिये आये, जिन्होंने मुझे विष दिया, जिन्होंने आगमें जलाया, जिन्होंने दिग्गजोंसे पीड़ित कराया और जिन्होंने सर्पोंसे

हँसवाया—उन सबके प्रति यदि मैं समान मित्रभावसे रहा हूँ और मेरी कभी पापबुद्धि नहीं हुई है तो उस सत्यके प्रभावसे ये दैत्यपुरोहित जी उठें।'

ऐसा कहकर उनके स्पर्श करते ही वे ब्राह्मण स्वस्थ होकर उठ बैठे और उन्होंने प्रह्लादजीको आशीर्वाद दिया।

इसपर हिरण्यकशिपुने प्रह्लादजीसे उनके इस प्रभावका कारण पूछा, तब उन्होंने बतलाया—

न मन्त्रादिकृतं तात न च नैसर्गिको मम।
प्रभाव एष सामान्यो यस्य यस्याच्युतो हृदि॥
अन्येषां यो न पापानि चिन्तयत्यात्मनो यथा।
तस्य पापागमस्तात हेत्वभावान्न विद्यते॥

(श्रीविष्णुपुराण १ । १९ । ४-५)

'पिताजी! मेरा यह प्रभाव न तो मन्त्रादिजनित है और न स्वाभाविक ही है, बल्कि जिस-जिसके हृदयमें श्रीअच्युत भगवान्‌का निवास होता है, उसके लिये यह सामान्य बात है। जो मनुष्य अपने समान दूसरोंका बुरा नहीं सोचता, हे तात! कोई कारण न रहनेसे उसका भी कभी बुरा नहीं होता।'

प्रह्लादजीकी भक्तिके कारण जब भगवान् प्रकट हुए, तब उन्होंने प्रह्लादजीसे वर माँगनेके लिये बार-बार कहा, फिर भी उन्होंने भगवान्‌से किसी बातके लिये भी प्रार्थना नहीं की; किंतु पिताके लिये प्रार्थना की कि पिताने आपके प्रभावको न जानकर आपकी बड़ी निन्दा की है और आपकी भक्ति करनेके कारण मुझसे भी द्रोह किया है। यद्यपि वे आपकी दृष्टि पड़नेसे ही पवित्र हो गये; फिर भी मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि उस महान् दोषसे मेरे पिता पवित्र हो जायँ। इसपर भगवान्‌ने कहा—'तुम्हारे पिता पवित्र हो गये, इसमें तो बात ही क्या है, वे अपनी इक्कीस पीढ़ियोंके पितरोंके साथ तर गये; क्योंकि तुम्हारे-जैसा कुलको पवित्र करनेवाला पुत्र उनको प्राप्त हुआ है।'

भक्त प्रह्लाद भगवान्‌के किये हुए विधानमें आनन्द मान रहे हैं,—केवल यही नहीं, बल्कि उनमें यह विशेष बात है कि जिन्होंने उनके विपरीत आचरण किया, उनका भी उन्होंने हित ही किया। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह किसीसे भी न द्वेष करे, न किसीका बुरा करे, न किसीका बुरा चाहे, बल्कि उसका हित ही करे। अपनेपर अत्याचार करनेवाले मनुष्यकी बुद्धिके सुधारके लिये या उसके कल्याणके लिये भगवान्‌से याचना की जाय तो वह याचना भी सकामकी गणनामें नहीं है।

इसी प्रकार दूसरा कोई हमपर अत्याचार करने आ रहा हो और हमारा कोई हितैषी हमारे हितके लिये अत्याचारीको रोकता हो, तब भी हमको तो उस अत्याचारीका हित ही करना चाहिये। जैसे—

जब पाण्डव द्वैतवनमें थे, घोषयात्राके बहाने राजा दुर्योधन अपने मन्त्रियों, भाइयों, रनिवासकी स्त्रियों तथा बहुत बड़ी सेनाको साथ लेकर पाण्डवोंको अपना वैभव दिखलाकर दुखी करनेके उद्देश्यसे उस वनमें गया। वह उस सरोवरके तटपर पहुँचा। सरोवरको पहलेसे ही गन्धर्वोंने घेर रक्खा था। अतः उनके साथ दुर्योधनका युद्ध हुआ। उसमें गन्धर्वोंकी विजय हो गयी और उन्होंने रानियोंसहित दुर्योधनको कैद कर लिया। तब उसके मन्त्रीगण पाण्डवोंकी शरणमें गये। जब महाराज युधिष्ठिरको यह समाचार मिला तो उन्होंने अपने भाइयोंको कहा—'कौरव इस समय भारी संकटमें पड़े हुए हैं। भाई-बन्धुओंमें मतभेद, लड़ाई-झगड़े तो होते ही रहते हैं, कभी-कभी परस्पर वैर भी बँध जाता है पर इससे अपनापन नष्ट नहीं होता। शरणागतोंकी रक्षा करने और कुलकी लाज बचानेके लिये तुमलोग शीघ्र गन्धर्वोंके साथ युद्ध करनेके लिये तैयार हो जाओ एवं उनके द्वारा पकड़े हुए राजा दुर्योधनको छुड़ा लाओ।' महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञा होनेपर अर्जुनने

प्रतिज्ञा की कि 'यदि गन्धर्वलोग समझाने-बुझानेसे कौरवोंको नहीं छोड़ेंगे तो यह पृथ्वी आज गन्धर्वराजका रक्त पीयेगी ।'

फिर भीमसेन आदि सभी गन्धर्वोंसे युद्ध करने गये । अर्जुनने अपने प्रिय मित्र चित्रसेन गन्धर्वको युद्धमें परास्त कर दिया । उस समय अर्जुनने चित्रसेनसे दुर्योधन-को कैद करनेका कारण पूछा और उसे छोड़ देनेके लिये कहा । तब चित्रसेन बोला—'पाण्डवोंको दुःख देनेका दुर्योधनका भाव जानकर देवराज इन्द्रने ही मुझको यहाँ भेजा है । इस दुर्योधनने धर्मराज युधिष्ठिरको और द्रौपदीको बड़ा धोखा दिया है, इसे छोड़ना उचित नहीं है ।' पर अर्जुनने कहा—'यदि तुम हमारा प्रिय करना चाहते हो तो धर्मराजकी आज्ञाके अनुसार इसे छोड़ दो ।' तब चित्रसेनने रानियोंसहित दुर्योधनको छोड़ दिया ।

इस प्रसङ्गमें महाराज युधिष्ठिरका बुराई करनेवालेके साथ भी भलाई करना—यह बहुत ही उत्तम व्यवहार है । उनके इस चरित्रसे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि अपने साथ कोई असद् व्यवहार करे तो हम उसका भी हित ही करें ।

मनुष्यको अपना यह उद्देश्य बना लेना चाहिये कि सबके हितके लिये अपने तन, मन, धनके द्वारा निष्काम भावसे सबकी सेवा करना । पर किसीसे सेवा करवाना नहीं । किंतु कहीं न्यायसे प्राप्त हो जाय और सेवा न करानेसे किसीको दुःख होता हो तथा वह कार्य धर्मानु-कूल हो तो उसके हितके लिये ही वह सेवा स्वीकार कर लेना दोष नहीं है । कोई भी व्यक्ति हमसे मिलने आ गया या कोई न्याययुक्त कार्य आकर प्राप्त हो गया तो उस कार्यको भी निष्काम भावसे भगवान्की प्रसन्नता-के लिये तत्परताके साथ अहंकार और स्वार्थसे रहित होकर करना चाहिये । ऐसा करनेपर सभी कार्य साधन-के रूपमें परिणत हो सकते हैं । जैसे एकान्तमें रहकर भजन-ध्यान, स्वाध्याय, मनन आदि करना साधन है । इसी प्रकार कोई मनुष्य चोरी, डकैती, बीमारी आदि आपत्तिसे ग्रस्त हो गया हो, या कहीं आग लग गयी हो, अतिवृष्टिके कारण बाढ़ आ गयी हो अथवा भूकम्प, महामारी, अकाल हो गया हो और उसमें पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सभी आपत्तिमें पड़ गये हों तो वहाँ अपनी शक्तिके अनुसार तन, मन, धन लगाकर निरभिमान तथा निष्काम भावसे उनकी सेवा करना भजन-ध्यानसे कम साधन नहीं है ।

साधनमें भाव ही प्रधान है, क्रिया प्रधान नहीं है । अच्छी-से-अच्छी क्रिया भी यदि भाव बुरा है तो वह नरकमें ले जा सकती है । जैसे, जप-ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना, अनुष्ठान आदि यदि किसीके अनिष्ट या मारण-उच्चाटनके लिये किया जाय तो वह क्रिया तो बहुत अच्छी है; किंतु उस कर्ताका भाव दूषित होनेके कारण वह उत्तम क्रिया भी नरकदायिनी हो जाती है । इसी प्रकार नाली साफ करना, झाड़ू लगाना, पाखाना-पेशाब-घर साफ करना-जैसी क्रिया देखनेमें तो बहुत नीची श्रेणीकी है; किंतु करनेवाला व्यक्ति संसारके हितके उद्देश्यसे दुखी मनुष्योंको सुख पहुँचानेके लिये, लोगोंका स्वास्थ्य ठीक रहे इस दृष्टिसे अथवा जिसके कोई करने-वाला नहीं है, ऐसे अपरिचित अनाथकी सेवाकी दृष्टिसे अभिमान और स्वार्थको त्यागकर भगवत्प्रीत्यर्थ धैर्य और उत्साहसे करे तो उसके लिये वह छोटे-से-छोटा कार्य भी कल्याण करनेवाला हो जाता है । इसी तरह न्यायसे कोई-सा भी कार्य आकर प्राप्त हो जाय तो उस कार्यको अभिमान और स्वार्थसे रहित होकर केवल भगवान्की प्रसन्नताके लिये किया जाय तो वह छोटे-से-छोटा कार्य भी कल्याण देनेवाला हो जाता है ।

इसलिये साधकको अपने मनके सम्मुख भगवान्को रखकर उनकी प्रसन्नताके लिये उनके रुख, मन और

सिद्धान्तके अनुसार धैर्य और उत्साहसे युक्त हो तत्परता-पूर्वक बड़े चावसे कार्य करना चाहिये । इस प्रकार कार्य करनेवाले साधकको कार्यकी असिद्धिमें या झंझटसे भरे कार्योंमें भी कभी मनमें उकताहट, घबराहट या थकावट आदि कुछ भी नहीं होता । बल्कि हर समय प्रसन्नता और शान्ति रहती है । तत्त्वज्ञ महापुरुषोंके तो यह स्वभावसिद्ध है और साधकके लिये वही आदर्श साधन है। साधकके चित्तमें भी जो प्रसन्नता और शान्ति है, वह भगवान्की कृपा एवं प्रसन्नतासे ही है तथा दूसरे प्राणियोंकी प्रसन्नतासे जो प्रसन्नता है, वह भी एक बहुत ही उत्तम भाव है। अतः वह भी प्रकारान्तरसे भगवान्की प्रसन्नताके ही समान है, क्योंकि भगवान् ही सारे प्राणियोंकी आत्मा हैं । इसलिये सबकी प्रसन्नता भगवान्-की ही प्रसन्नता है । किंतु इसमें अपने उत्तम कार्यके कारण जो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा होती है, उसको लेकर यदि चित्तमें प्रसन्नता होती है तो वह राजसी है और निष्काम भावसे हमारा अन्तःकरण शुद्ध होगा— इस भावको लेकर जो प्रसन्नता है, वह सात्त्विकी है । तथा सबका परम हित ही मेरा परम हित है—इस भावमें भी मुक्तिकी इच्छा है; अतः यह भी अन्तःकरण-शुद्धिकी इच्छाकी भाँति सात्त्विक भाव ही है । किंतु मुक्तिकी इच्छा भी न रहकर, किसी भी हेतुको न लेकर जो भगवान्की प्रसन्नतासे ही प्रसन्नता है, वह परम सात्त्विकी है यानी सात्त्विकसे भी परेकी वस्तु है ।

इस प्रकार साधन करनेवाले मनुष्यसे यदि कोई कहे कि आपके चित्तमें जो प्रसन्नता-शान्ति रहती है, धैर्य-उत्साह रहता है तथा थकावट, उकताहट या और कोई भी हर्ष-शोक, राग-द्वेषादि विकार नहीं होते, इसमें क्या कारण है, तो उसमें साधकको यही मानना और यही उत्तर देना चाहिये कि यह भगवान्की कृपा है । अतएव अपने ऊपर भगवान्की कृपा समझते हुए भगवान्को हर समय अपने मनके सामने रखकर भगवान्के रुख, मन और सिद्धान्तका खयाल करता रहे । यदि कहें कि भगवान्के रुखका हमें कैसे पता लगे तो इसका उत्तर यह है कि सेवा-भावके प्रतापसे साधकको भगवान्के रुखका पता लगता रहता है, जैसे पतिव्रता स्त्रीको सेवाभावके कारण पतिके रुखका पता लगता रहता है । इसलिये जिसमें भगवान् प्रसन्न हों, जो भगवान्के मन और सिद्धान्तके अनुकूल हो वही कार्य करना चाहिये; फिर अप्रसन्नता, अशान्ति, दुःख, उकताहट, थकावट आदि तथा अन्य किसी प्रकारके विकार नहीं हो सकते । इस प्रकार साधन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति सहज और शीघ्र हो सकती है ।

प्रभु-कृपा और प्रभुका मङ्गल-कृपा-विधान

नित्य निरन्तर सहज रूपमें हैं प्रभु मङ्गल-कृपा-निधान ।
मङ्गलमय होता है उनका इसीलिये प्रत्येक विधान ॥
देख न पाते हम अदूरदर्शी उनकी यह कृपा महान ।
भय-विषादमें डूबे रहते व्यर्थ, इसीसे दुर्मतिमान ॥

बरस रही प्रभु-कृपा सभीपर बिना भेद अनवरत अपार ।
किंतु न कर पाते अनुभव विश्वासहीन हम मोहागार ॥
पर प्रभुकृपा न वञ्चित रखती कभी किसीको परम उदार ।
समुचित मधुर-तिक्त औषध दे हरती रहती रोग-विकार ॥

श्रीराम-कर-कंज

(लेखक—मानसतत्त्वान्वेषी पं० श्रीरामकुमारदासजी रामायणी)

तुच्छ लगैं सब अमृत-वीचि सिया करुणाकी कटाक्ष जो हेरैं।
अति दीन मलीन सुसाधनहीन 'कुमार' भयो पद पंकज नेरैं॥
करुणामृत सो बुधि-बापी भरैं तो कढ़ैं नव काव्य-सुकंज घनेरैं।
सीय पदार्पण कै, ढरि जो करकंज कृपा करि सीस मों फेरैं॥

महर्षि श्रीअगस्त्यजीने श्रीरामजीसे कहा था—

चिदानंदमय देह तुम्हारी। रहित बिकार जान अधिकारी॥

श्रीरामभद्रजीका सर्वाङ्ग सच्चिदानन्दात्मक है। उन अङ्गावयवोंमें देखनेमें तारतम्य होते हुए भी माहात्म्य-प्रभावमें कोई भी तारतम्य नहीं है। रहस्य-ग्रन्थोंमें प्रायः सभी अङ्गावयवोंका माहात्म्य प्रचुररूपेण पाया जाता है। पर आज यहाँ गोस्वामिपाद श्रीतुलसीदासजी महाराजद्वारा कथित भगवान् श्रीरामभद्रजीके केवल श्रीकराम्बुजोंकी छायामात्रके माहात्म्यका किंचित् उदाहरण उन्हीं गोस्वामीजीके शब्दोंमें उपस्थित किया जाता है। साक्षात् श्रीकरकमलोंका माहात्म्य तो क्या, माहात्म्याभास-तकका भी यथार्थ वर्णन कोई कर ही नहीं सकता। हाँ, गोस्वामीजीने अर्थालंकार-वर्णन-परिपाटीके निर्वाहके लिये कई जगह श्रीरामकराम्बुजोंके वर्णनमें अम्बुजोंको उपमानमें रखकर उपमेयमात्रका वर्णन साङ्गरूपकसे किया है। जैसे—

१—कनक कुधर केदार बीज सुंदर सुर मनिबर।
सींचि कामधुक धेनु सुधामय पय बिसुद्धतर॥
तीरथ पति अंकुर स्वरूप जच्छेस रच्छ तेहि।
मरकतमय साखा सुपत्र मंजरि सुलच्छि जेहि॥
कैवल्य सकल फल कल्पतरु
सुभ स्वभाव सब सुख बरिस।
कह 'तुलसिदास' रघुबंसमनि
तौ कि होहिं तुव कर सरिस॥
(कवितावली उत्तर० ११५)

२—सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहैं।
कल्पलताहू की कल्पलता बर,
कामदुहाहू की कामदुहा हैं॥
(गीतावली उत्तर० १३)

३—रामचंद्र करकंज कामतरु
बामदेव हितकारी॥

....

अबिचल अमल अनामय
अबिरल ललित रहित छल-छाया।
समन सकल संताप-पाप-रुज
मोह मान मद माया॥
(गीतावली उत्तर० १४)

४—कबहुँ सो कर-सरोज रघुनायक
धरिहौ नाथ सीस मेरें।
जेहिं कर अभय किए जन आरत
बारक बिबस नाम टेरें॥१॥
जेहिं कर-कमल कठोर संभुधनु
भंजि जनक-संसय मेट्यो।
जेहिं कर-कमल उठाइ बंधु ज्यों
परम प्रीति केवट भेंट्यो॥२॥
जेहिं कर-कमल कृपालु गीध कहँ
उदक देइ निज लोक दियो।
जेहिं कर बालि बिदारि दास-हित
कपि-कुल-पति सुग्रीव कियो॥३॥
आयो सरन सभीत बिभीषन
जेहिं कर-कमल तिलक कीन्हों।
जेहिं कर गहि सर-चाप असुर हति
अभय दान देवन दीन्हों॥४॥
सीतल सुखद छाँह जेहि करकी
मेटति पाप-ताप-माया।
निसि-बासर तेहि कर-सरोज की
चाहत तुलसिदास छाया॥५॥
(विनयपत्रिका १३८)

उपर्युक्त चारों स्थलोंपर कहा गया करकंजका

माहात्म्य प्रायः एक-सा ही है, केवल शब्दोंका उलट-फेर मात्र है। विनयपत्रिकावाले पदमें कर-कंजकी सुछाया पाकर माहात्म्य लाभ करनेवालेंमें कुछ महाभागों-के नाम भी गिनाये हैं, जैसे—केवट, गीध, सुग्रीव, विभीषणादि।

इस पदमें जिनपर कृपा हुई, उनके साथ तो श्री-रामकरके विशेषणमें कमल या कमलके पर्यायवाची शब्द दिये हैं और जिसे-जिसे दण्ड दिया गया है उसके साथ श्रीरामकरका विशेषणरहित प्रयोग है। यह बात भावुकोंके द्वारा चिन्त्य है।

अब जिन महाभागोंपर श्रीरामभद्रने अपना करकमल रक्खा अर्थात् जिन्होंने श्रीराम-कर-कंजकी छाया प्राप्त की और उनका कल्याण उस छायामात्रसे हुआ अर्थात् उनके पाप, ताप और मायाका नाश हो गया, उनमें कुछ महाभागोंके उदाहरणमें श्रीरामचरितमानसका साक्ष्य उद्धृत किया जाता है—

१-महामानव मूलपुरुष श्रीमनुजी—

सिर परसे प्रभु निज कर कंजा। तुरत उठाए करुना पुंजा॥

पाप-ताप-माया तीनोंका नाश—

१-पाप—त्रिदेवोंका अनादर—

बिधि हरिहर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा॥
मागहु बर ....।

ताप—

अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा।
उर अभिलाष निरंतर होई।
जौं अनाथ हित हम पर नेहू।

माया—

बरबस राज सुतहि नृप दीन्हा।
बहु भाँति लोभाए॥ (परंतु)
परम धीर नहिं चलहिं चलाए॥
चाहौं तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराव।

२-काकर्षि श्रीभुशुण्डिजी—

कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ।

पाप, ताप और माया, तीनोंका नाश—

पाप—गुरुद्रोह—

गुरु कर द्रोह करौं दिन राती।

ताप—अनन्त ब्रह्माण्डोंमें भ्रमणसे उत्पन्न अवसाद—

फिरत मोहि ब्रह्मांड अनेका॥
धरनि परेउँ सुख आव न बानी॥—

माया—

निज माया प्रभुता तब रोकी।
अब न तुम्हहि माया निअराई।

३-वनेचराधीश केवट श्रीगुहजी—

'परम प्रीति बिलोकि रघुराई। हरषि उठाइ लियो उर लाई॥
लियो हृदय लाइ कृपानिधान०'
'जेहिं कर कमल उठाइ बंधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंट्यो॥'

पाप, ताप और माया—तीनोंका नाश—

पाप—मांसाहार—

'पात भरी सहरी सकल सुत बारे बारे०'
'यहि सम निपट नीच कोउ नाहीं।'

ताप—

राम कृपालु गरीब निवाजा॥
राम कीन्ह आपन जबही तें।
भयउँ भुवन भूषन तबही तें॥

माया—

देव धरनि धन धाम तुम्हारा। मैं जन नीच सहित परिवारा॥

४-गृध्राधिपति श्रीजटायुजी—

कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर।

पाप, ताप और माया, तीनोंका नाश—

पाप—

'खाइ कुजंतु जियो हौं।' (गी०)
'गीध अधम खग आमिष भोगी।'

ताप—रावण-युद्धजनित अवसाद, घायलपन—

काटेसि पंख परा खग धरनी।
······बिगत भई सब पीर॥

माया—शरीरका मोह—

राम कहा तनु राखहु ताता। (जब)
राखौं देह नाथ केहिं खाँगे॥

५—महाभागवताग्रगण्य श्रीहनूमान्‌जी—

पाछें पवन तनयँ सिर नावा॥
परसा सीस सरोरुह पानी॥

पाप, ताप और माया, तीनोंका नाश—

पाप—सिंहिका (स्त्री)-वध, लङ्का (नगर)-दाहजन्य गर्जनद्वारा भ्रूणहत्या—

चलत महा धुनि गरजेउ भारी।
गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचर नारी॥

ताप—सुरसा (नागिन) के मुखके विषसे सम्भूत और लङ्का जलाते समय अग्नि-जन्य

माया—

बोला बचन बिगत श्रम सूला॥

६—वानराधीश रामसखा श्रीसुग्रीव—

कर परसा सुग्रीव सरीरा।

पाप, ताप और माया, तीनोंका नाश—

पाप—

मैं पामर पसु कपि अति कामी॥
बिषयँ मोर हरि लीन्हेउ ग्याना॥

ताप—

तन भा कुलिस गई सब पीरा॥
बालि त्रास ब्याकुल दिन राती।
तन बहु ब्रन चिंता जर छाती॥
सो सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ॥

माया—

'नाथ कृपाँ मन भयउ अलोला।'
'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥'
'अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौ दाया॥'
'तुम प्रिय मोहि भरत जिमि भाई।'

७—महाप्राण श्रीवालीजी—

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसा निज पानी॥

पाप, ताप और माया, तीनोंका नाश—

पाप—अगम्यागमन (अनुजवधूरति), भक्तद्रोह, भगवदपमान, अभिमान आदि।

ताप—बाणजनित व्यथा—

परा बिकल महि सर के लागें।

माया—शरीर-ममत्व—

अचल करौं तनु राखहु प्राना॥
बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥
अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरहीं।

८—अमर लङ्केश श्रीविभीषणजी—

आएँ सरन सभीत बिभीषन
जेहिं कर कमल तिलक कीन्हो।

पाप, ताप और माया, तीनोंका नाश—

पाप—

सहज पाप प्रिय तामस देहा।

ताप—

रावण क्रोध अनल······'जरत बिभीषन राखेउ।

माया—

उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥
जदपि सखा तोहि इच्छा नाहीं।

श्रीराम-कर-कंजोंमें जो चौंसठ चिह्न हैं, उनके माहात्म्यका संकेत यहाँ स्थानाभावसे नहीं दिया जा रहा है।

मधुर

[श्रीराधा-माधवकी तात्त्विकस्वरूपमें नित्य-एकता और लीलामें नित्य-भिन्नता]

श्रीकृष्ण कहते हैं—

राधा मेरी प्राणप्रतिमा,
मैं राधा का प्राणाराम।
राधा मेरी, मैं राधा का,
नित्य मधुर सम्बन्ध ललाम॥
राधा मैं हूँ, मैं राधा है,
भिन्न तथापि, कदापि न भिन्न।
नित्य भिन्न नव-नव लीला-रस-
आस्वादन अनवद्य अभिन्न॥

राधा मेरे प्राणोंकी प्रतिमा है और मैं राधाका प्राण-निवास हूँ; राधा मेरी है, मैं राधाका हूँ—हमारा यह मधुर रमणीय नित्य-सम्बन्ध है। राधा मैं हूँ अर्थात् मैं ही राधारूपमें प्रकट हूँ और राधा मैं है अर्थात् राधा ही मैं श्रीकृष्ण बनी हुई श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट है। हम भिन्न दीखनेपर भी कदापि भिन्न नहीं हैं—नयी-नयी लीलाओंके निर्दोष रसास्वादनके क्षेत्रमें नित्य-भिन्न होते हुए भी नित्य-अभिन्न हैं।

राधामय जीवन नित मेरा,
मैं नित राधा-जीवन-रूप।
राधा की मेरी, यह एक-
मेकता दिव्य पवित्र अनूप॥
मेरे हित राधा उन्मादिनि,
राधा हित मुझमें उन्माद।
करते किंतु एक दूसरे-
के मनका अनुभव अविवाद॥
करते एक-दूसरे के मन-
की प्रेमी-प्रेमास्पद भाव।
नित्य निरन्तर नव-नव सुख
देने का बढ़ा परस्पर चाव॥

मेरा जीवन नित्य राधामय है और मैं नित्य राधा-जीवनरूप हूँ। राधाकी और मेरी यह एकात्मता अनुपम, दिव्य और पवित्र है। राधा मेरे लिये उन्मादिनी है और मुझमें राधाके लिये उन्माद है; परंतु हम दोनों ही एक दूसरेके मनके भावोंका निर्विवाद अनुभव करते रहते हैं, इसलिये परस्पर प्रेमी और प्रेमास्पद बने हुए उसी भावसे एक दूसरेके मनकी करते रहते हैं एवं हममें नित्य-निरन्तर परस्पर एक दूसरेको सुख प्रदान करनेका नया-नया चाव बढ़ता रहता है।

इसी प्रकार श्रीराधाके हृदयोद्गार श्रीकृष्णके प्रति हैं—

मेरे तुम, मैं नित्य तुम्हारी;
तुम मैं, मैं तुम, संग असंग।
पता नहीं, कब से मैं तुम बन,
तुम मैं बने, खेलते रंग॥
होता जब वियोग, तब उठती
तीव्र मिलन आकांक्षा जाग।
पल अमिलन होता असह्य,
तब लगती हृदय दहकने आग॥
चलती बन रस-सरि उन्मादिनि
विह्वल विकल तुम्हारी ओर।
चलते उमड़ मिलाने निज में
तुम भी रससमुद्र तज छोर॥

(श्यामसुन्दर !) तुम नित्य मेरे हो, मैं नित्य तुम्हारी हूँ; तुम मैं हो—तुम राधारूपमें प्रकट हो और मैं तुम श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट हूँ। हमारा यह सङ्गरहित नित्यसङ्ग है। पता नहीं कबसे मैं तुम बनी और तुम मैं बने यह रंग खेल रहे हैं—लीला कर रहे हैं। लीलामें जब वियोग होता है, तब हृदयमें मिलनकी तीव्र आकाङ्क्षा जाग उठती है और तब एक पलका अमिलन भी असह्य हो उठता है और हृदयमें आग धधकने लगती है। वह विरहाग्नि मुझे रस-सरिताके रूपमें परिणत कर देती है और मैं उन्मादिनी होकर विह्वल-व्याकुल हुई तुम्हारी ओर चल पड़ती हूँ, मुझ

रसनदीको अपनी ओर वही चली आती देखकर हे रससमुद्र ! तुम भी उमड़ पड़ते हो और मर्यादा छोड़कर मुझे अपनेमें मिला लेनेके लिये आतुर हो बह चलते हो।

लीला-रस-आस्वादन-हित तुम-
　　मैं बनकर वियोग-संयोग।
धर अनेक रस-रूप रमण-
　　रमणी, करते नव-नव सम्भोग॥
किंतु न मैं नारी न तुम्हीं,
　　नर, एक नित्य चिन्मय रसतत्त्व।
आश्रय-विषयरूप दो सुमधुर
　　शोभन परम शुद्धतम सत्त्व॥

लीला-रसका आस्वादन करनेके लिये वस्तुतः स्वयं तुम और मैं ही विप्रलम्भ और मिलनका रूप धारण कर लेते हैं और अनेक रस-रूपोंको धारण करके रमण-रमणी बने नये-नये सम्भोग (लीला-रसास्वादन) करते हैं। परंतु वास्तवमें न तो मैं नारी हूँ और न तुम नर ही हो। हम दोनों ही नित्य एक (अनन्य) चिन्मय रसतत्त्व हैं और हम सुन्दर, सुमधुर, परमविशुद्धतम सत्त्व ही परस्पर आश्रय और विषय बने लीला करते हैं।

यह नित्य-अभिन्नतामें नित्य-भिन्नता कितनी मधुर और दिव्य है !

भक्त कवि जयदेव

(लेखक—**श्रीराधाकृष्णजी**)

वैद्यनाथ-धामसे पंद्रह-सोलह मील दूर बेलका जंगल है। वहाँ एक ऊँचा पहाड़ है। उस पहाड़की चोटी-को देखकर ऐसा लगता है जैसे उस चोटीपर चढ़कर मोर बैठा है और उस मोरकी आँखोंसे अविरल जल-प्रवाह चालू है। उसी झरनेका जल धरतीपर गिरता है और लोट-पोटकर नदीका रूप ले-लेता है और पूरबकी ओर बह निकलता है। नदीका नाम है मयूराक्षी नदी।

सिकता-शय्यापर लोटती-पोटती, किलकारियाँ लगाती, गाती-गुनगुनाती, ठिठकती-ठुमकती मयूराक्षी आगेकी ओर सरकने लगती है। उस समय वह किनारेके काशगुच्छोंसे न जाने क्या बातें करती है। सामने यदि पत्थर राह रोकते हैं तो उनसे उलझकर वह उन्हें गीत सुनाने लगती है। इसी प्रकार चलते हुए उसका बालापन बीत जाता है और बंगालकी शस्य-श्यामला भूमिपर पहुँचकर मयूराक्षीकी जवानी आती है। लो, अब तो वह पहचानमें आती ही नहीं। मटमैली, अल्हड़ और उच्छृङ्खल। न लाज, न शरम। बड़ी बेकही, बड़ी बेहया। अब वह बड़े चौड़े पाटवाली नदी है। देखनेमें गम्भीर, किंतु बड़ी तेजीके साथ बहनेवाली। इसकी छातीपर तैरनेवाली बड़ी-बड़ी नौकाएँ भी ऐसी लगती हैं जैसे पानीमें कलहंस खेल रहे हैं। बरसातमें उमड़ती है तो कूल-कछार तोड़ती-ताड़ती, फुफकारती-चिग्घाड़ती-दहाड़ती कोसोंतक तबाही फैला देती है। वह गर्जन करती है और कहती है—'मुझे कोई जीत नहीं सकता, मैं अजेय हूँ।' लोग उसकी बात सुनते हैं और त्राहि-त्राहि पुकारते हैं। गिड़गिड़ाते हैं और कहते हैं—'हाँ, तुम अजेय हो !'

और अब नदीका नाम मयूराक्षी नहीं, बंगालमें वह 'अजय' है। वीरभूम इलाकेमें इस ओरसे लेकर उस छोरतक यह नदी बहती है। उसी अजय नदीवाले इलाकेमें एक गाँव है। गाँवका नाम है केन्दुबिल्व (केन्दुली)।

वहीं कविकुल-चूड़ामणि जयदेवका जन्म हुआ था।

केन्दुबिल्वमें एक ब्राह्मण-दम्पति रहता था। पतिका नाम था भोजदेव और पत्नीका वामादेवी। उसी वामादेवीकी गोदमें जयदेवका उदय हुआ था।

न जाने वह इतिहासका कौन-सा काल रहा होगा। कौन कह सकेगा कि वह यथार्थतः कौन-सा समय था ? कदाचित् यह वह समय था जब अजमेर-के चौहान बीसलदेव और दिल्लीको फिरसे बसानेवाले तोमर राजा अनङ्गपालकी तलवारें युद्धक्षेत्रमें टकरा रही थीं; या शायद यह वह समय रहा होगा जब अनङ्ग-पालकी प्यारी बेटी रूकाबाई बीसलदेवके भाई सोमेश्वरसे विवाह करके दिल्लीसे अजमेर जा रही थी; या कौन जानता है कि वह समय ऐसा था, जब रूकाबाईका बेटा पृथ्वीराज अनङ्गपालकी गोदमें आ रहा था; या वह समय भी हो सकता है जब पृथ्वीराजका राज्याभिषेक हो रहा था और वह दिल्ली तथा अजमेर दोनों राज्योंके संचालनका सूत्रधार बन रहा था; या कौन जानता है कि जयदेवका जन्म उस समय हुआ होगा जिस समय कन्नौजकी राजकुमारी संयुक्ता पृथ्वीराजकी हेममूर्तिके गलेमें वरमाला डाल रही होगी; या वह समय भी हो सकता है जब विक्रम-संवत् १२४८ में थानेश्वरके मैदानमें पृथ्वीराजसे परास्त होकर, राजा गोविन्दरामके भालेकी चोट खाकर मुहम्मदगोरी लँगड़ाता-लड़खड़ाता लाहौरकी ओर भागा जा रहा था; या वह समय भी रहा होगा जब संवत् १२५० में पृथ्वीराज समर-भूमिमें खेत रहे होंगे और महारानी संयुक्ता धधकती आगकी ज्वालामें अपने जीवनकी आहुति दे रही होगी। कौन जानता है कि उस समयतक मालवाका अन्तिम राजा अर्जुन वर्मन राजसिंहासनपर बैठा था या नहीं। सम्भवतः उस समयतक बिल्हणकी कृति 'चौर-पञ्चाशिका' सम्पूर्ण हो चुकी थी। कश्मीरकी सुरभिसे सुवासित उसके मधुर श्लोक भारतवर्षके रसिक-समुदायमें गाये-गुनगुनाये जा रहे थे। कदाचित् उस समय महाकवि कल्हण 'राजतरंगिणी' की रचनामें लीन रहे होंगे। कहना कठिन है कि उस समयतक कुशल शासक और 'दानसागर' नामक ग्रन्थका निर्माता बल्लालसेन बंगालके राजसिंहासनको सुशोभित कर रहा था या संसारसे जा चुका था। हाँ, इतना जरूर कहा जायगा कि जयदेवके समयमें बल्लालसेनके सुपुत्र लक्ष्मणसेन बंगालके राजसिंहासन (सिंहासनारोहण विक्रम-संवत् ११७६) पर विराजमान थे। नदिया उनकी राजधानी थी। आगे चलकर जयदेव इन्हीं सम्राट् लक्ष्मणसेनके दरबारमें राजकवि हुए थे। विद्वानोंने जयदेवका जन्मकाल ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध या बारहवीं शताब्दी-का पूर्वार्ध माना है।

पिता भोजदेव और माता वामादेवी............बस, इतना ही पता चलता है। यह ज्ञात नहीं कि उनकी सामाजिक स्थिति क्या थी। यह भी पता नहीं चलता कि वे वैष्णव थे, शाक्त थे या शैव थे। उनका कोई पता नहीं मिलता।

किशोरावस्थामें ही हम जयदेवको मातृ-पितृहीन देखते हैं। अब माता नहीं, पिता नहीं। घरमें उनका कोई नहीं, गाँवमें कोई सहारा नहीं, आश्रय नहीं, आधार नहीं। जयदेवका सारा जीवन पड़ा है। जयदेव कहाँ जाय ? किसका आश्रय ले ? पुरीधाममें स्वयं श्रीजगन्नाथ विराजते हैं। जिसका कोई आश्रय नहीं, उसके आश्रय केवल भगवान् हैं। जयदेव उन्हीं भगवान्का आश्रय लेगा। जयदेव उन्हीं भगवान् जगन्नाथकी सेवामें संलग्न रहेगा। जयदेवने अपनी मातृभूमिको त्याग दिया। वह पुरीधामकी ओर जा रहा है, जहाँसे मानो स्वयं जगन्नाथ उसे बुला रहे हैं। कह रहे हैं—'मेरे पास आओ, जयदेव, मेरे पास आओ।'

पुरीधाम.......दिन आते हैं और चले जाते हैं। जयदेवके दिन पुरीधाममें बीत रहे हैं। अन्तःकरणमें भगवान्की निष्ठा है और बाहर सारी दुनिया है। दुनिया बदल रही है, समय बदल रहा है, उम्र बदल रही है; किंतु अन्तरका भाव नहीं बदलता। जैसा-जैसा

समय आता है, जयदेव होठोंपर मुस्कुराहट लिये हुए उसे झेल रहे हैं। किशोरावस्था बीत चुकी है। अब यौवनके दिन हैं, जब अरमानोंकी कलियाँ खिलती हैं, जब कल्पना पंख पसारकर उड़ने लगती है, मनुष्य अपना जीवन-साथी चुनता है और सारी दुनिया रस-भीनी रंगीन लगने लगती है; परंतु जयदेव सभी ओरसे निर्विकार हैं।

एक दिन एक ब्राह्मण आये। उनकी आँखोंमें जिज्ञासा थी। जयदेवको देखकर जैसे उन्हें आश्वस्ति मिली।

'आपका नाम ?'

'मुझे लोग जयदेव कहते हैं।'

'ब्राह्मण हैं ?'

'हाँ, ब्राह्मण हूँ।'

'मैं आपको ही खोज रहा था।'

जयदेवको आश्चर्य हुआ—'कहिये, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?'

'सेवा तो पीछे होगी, पहले आप मेरी रामकहानी सुन लें।'

'कहिये।'

'मैं भी ब्राह्मण हूँ। मैं निस्संतान था। संतानकी कामना थी, परंतु भगवान्‌की दया नहीं थी। आखिर लोगोंने कहा कि पुरीधाममें जाओ, भगवान् जगन्नाथकी शरण लो। वे ही तुम्हारी मनोकामना पूरी करेंगे। तब मैं पुरी चला आया और भगवान्‌के चरणोंमें निवेदन किया कि सबसे पहले मेरी जो संतान होगी, उसे तुम्हारी ही सेवाके लिये दान कर दूँगा।'

जयदेव समझ नहीं सके कि ये ब्राह्मण कहना क्या चाहते हैं।

ब्राह्मण कह रहे थे—'भगवान्‌ने मेरी बात सुन ली। मैं एक अतीव सुन्दरी कन्याका पिता बना; परंतु वह कन्या भगवान् जगन्नाथको समर्पित थी। अब उसने वय प्राप्त किया तो उसे यहाँ पुरी ले आया। मेरी लड़की पद्मावती जगन्नाथ भगवान्‌की सेविका बनी। कल रात जब मैं सो रहा था, तब मैंने एक अद्भुत स्वप्न देखा।'

'क्या देखा ?'

'देखा कि मेरे सामने ज्योतिर्मय जगन्नाथ खड़े हैं। वे आदेश दे रहे हैं कि ब्राह्मण! तुम्हारी कन्या पद्मावती मेरे भक्त जयदेवको समर्पित करो। वह जयदेवकी जीवनसंगिनी होगी।' तबसे मैं आपको ही खोज रहा हूँ।

जयदेवने विस्मय-विस्फारित विलोचनोंसे ब्राह्मणकी ओर देखा।

ब्राह्मणने कहा—'वत्स, पद्मावती अनिन्द्य सुन्दरी है। चन्द्रमामें भी कलङ्ककी कालिमा है, परंतु पद्मावती-का सौन्दर्य शरत्कालके गङ्गाजलके समान निर्मल है। वह पढ़ी-लिखी है, तत्त्वज्ञान और भक्तिकी चर्चा कर सकती है। किसी पण्डितसे शास्त्रार्थ हो तो उसमें भी वह पीछे नहीं हट सकती। वह संगीत जानती है, नृत्य जानती है। वह कलाओंमें पारंगत है।'

जयदेवने सिर उठाकर कुछ कहना चाहा। ब्राह्मण कह उठे—'भगवान् जगन्नाथके आदेशसे पद्मावती आपको समर्पित है।'

जयदेवने कहा—'परंतु मेरा जीवन तो स्वयं भगवान् जगन्नाथको समर्पित है। जो स्वयं समर्पित है उसे समर्पण क्या ?'

'परंतु मुझे तो जगन्नियन्ता जगन्नाथका आदेश है।'

'किंतु वह आदेश मुझे नहीं है।'

'तब ?'

जयदेवने विनीत भावसे सिर हिलाया—'मैं लाचार हूँ ।'

ब्राह्मणका आनन अन्धकारसे घिर आया । वे निराश हो गये । पूछा—'पद्मावतीका अब क्या होगा ?'

'मैं क्या कह सकता हूँ ?' जयदेवने कहा ।

ब्राह्मण निराश होकर लौट गये ।

वे फिर जयदेवके पास गये और उन्हें निराश होना पड़ा । प्रार्थनासे पत्थर भी पिघल जाता है, और फिर पद्मावती-जैसी लड़की । ऐसी जीवन-संगिनी भाग्यसे ही मिलती है । फिर भी जयदेव अस्वीकार कर रहा है ।

उस ब्राह्मणने पत्नीसे सलाह ली ।

ब्राह्मणकी पत्नीने कहा—'भगवान् जगन्नाथका आदेश है । पद्मावती जयदेवको समर्पित है तो उसीको समर्पित रहेगी । हमलोगोंने अपना कर्तव्य निभाया । अब पद्मावती स्वयं अपना कर्तव्य निबाह लेगी ।'

आपसमें सलाह हो गयी कि जयदेव चाहे लाख अस्वीकार करें; लेकिन पद्मावतीको उनके यहाँ ही छोड़ देना होगा । पद्मावती बुद्धिमती है । वह जयदेवको अपने अनुकूल बना लेगी ।

ब्राह्मण अपनी बेटीको वहाँ ले गये, जहाँ जयदेवकी कुटिया थी । पद्मावतीसे बोले—'बेटी ! यही तुम्हारा पतिगृह है । अब मेरे यहाँ तुम्हारा स्थान नहीं । तुम जयदेवको समर्पित हो । अपने पतिकी सेवा करना, उनके जीवनको सुखी बनाना, हर काममें उनका साथ देना ।' पद्मावती मौन खड़ी थी । अपनी बड़ी-बड़ी उज्ज्वल आँखोंसे अपने पतिगृहकी ओर देख रही थी ।

आँसूकी गिरी हुई बूँदके समान पद्मावतीको छोड़कर ब्राह्मण वहाँसे चले गये । चले गये सदा-सर्वदाके लिये पद्मावतीको उस नवयुवकके लिये छोड़कर, जो उसे अपनी भार्या बनाना सरासर अस्वीकार कर रहा था । भोरके सुखद सपनेकी तरह ब्राह्मणने पद्मावतीको वहीं छोड़ दिया और स्वयं जैसे जागृति और जगत्की ओर लौट गये ।

जैसे उल्कापात हुआ हो, कसौटीपर खिंची कनक-रेखा-सी पद्मावती वहीं रह गयी । उसकी दुनिया बदल गयी थी, उसका जीवन बदल गया था । जो अपने थे, उन्होंने उसे परायी बना दिया था और जो पराया था, वह अपना होनेवाला था । परंतु क्या वह अपना हो सकेगा ? हे जगन्नाथ ! मुझे गति दे दी, अब उन्हें भी मति देना ।

जब जयदेव कुटीरमें लौटे तो सारी कुटिया जैसे सौन्दर्यसे उद्भासित थी । अपनी कुटिया उन्हें ऐसी जान पड़ी जैसे आकाशमें द्वितीयाका चाँद आ गया हो । जैसे स्वयं सौन्दर्यका प्रतिबिम्ब हो या जैसे सौभाग्यकी मुस्कान हो !

कदाचित् जयदेवने पूछा होगा—'कौन हो तुम ?'

कदाचित् उत्तर मिला होगा—'पद्मावती ।'

कौन पद्मावती ?

समर्पिता !

किसे ?

आपके ही श्रीचरणोंमें !

कौन कह सकता है कि उस समय पद्मावतीके मन-मानसमें कैसी लहरियाँ उठ रही होंगी ? कौन जानता है कि जयदेवके हृदय-सिन्धुमें किस प्रकारके ज्वार-भाटे आ रहे होंगे ! जैसे उस समय रंग-बिरंगी बिजलियाँ खेल रही होंगी, अमृतको छूकर स्वर्गलोकसे मलयानिलका झोंका चला आया होगा । आजसे साढ़े आठ सौ वर्ष पहले क्या हुआ होगा, यह कह सकना कठिन है । यह भी कह सकना कठिन है कि एक ही घरमें वे दोनों किस प्रकार रहते होंगे । कौन जानता है कि प्रभात और सुषमाके समान वे लोग मिलकर रहते थे

या चाँद और सूरजके समान अलग-अलग । यह कह सकना तो और भी कठिन है कि ऊखके साथ मधुरता कब मिली और फूलको सुगन्ध किस प्रकार प्राप्त हो गयी । कुछ-कुछ इस बातका आभास मिलता है कि पहले जयदेव अस्वीकार करते थे और पद्मावती अस्वीकृत होकर नहीं रहना चाहती थी; दोनों जल और पुरइनके पत्तेकी तरह एकमें रहकर भी अलग-अलग थे । एक हाथसे ताली नहीं बज पाती, सो नहीं बज पाती थी ।

फिर उसके बाद जो होना था, वही हुआ । अनुकूल हवा पाकर आग सुलग आयी, हृदय मक्खनकी तरह पिघलकर बहने लगा, ठोस बर्फ पानी बन गयी । जयदेवने चन्दनके तिलकके समान पद्मावतीको शिरोधार्य कर लिया । पद्मावती जयदेवकी पत्नी बनी ।

कलकल-छलछल रसकी धारा बह निकली । जयदेव झरनेकी तरह गाते, पद्मावती लहरियोंकी तरह नृत्य करती । दोनोंका मन वृन्दावनके यमुना-पुलिनमें घूमता रहता·······राधा और कृष्ण·······धीर समीरे यमुना-तीरे ! जयदेवकी साधना कृच्छ्र साधना नहीं, उस साधनामें भक्तिके रसका आलोडन-विलोडन था । भक्तिके क्षीरसागरमें दोनों डूबते-उतराते, बहते-तैरते, जीवन-पथपर आगे बढ़ने लगे ।

भक्त कवि जयदेवके इस जीवनको क्या जगन्नियन्ता जगन्नाथ नहीं देखते थे ?

जरूर देखते थे । जयदेवकी निद्राके पथसे चलकर उन्होंने उसे स्वप्नमें दर्शन दिया । जय हो महाप्रभु, तुमने जयदेवको कृतार्थ कर दिया !

जयदेव !

आज्ञा हो, प्रभो !

पद्मावतीके मिलनेसे पहले तुम अपूर्ण थे ।

हा दयानिधान !

अब तो पूर्ण हो, अब यहाँ पुरीधाममें क्या कर रहे हो ?

आपके चरणोंके आश्रयमें हूँ, कृपासिन्धु !

धरतीका एक हरा-भरा अञ्चल ऐसा है, जहाँ जाकर तुम्हें भक्तिकी रसधारा बहानी है ।

कहाँ जाऊँ, भगवन् ?

'अपने गाँव केन्दुबिल्वमें लौट जाओ ।'

प्रभो ! यहाँ तो आपके चरणोंका आश्रय है । वहाँ किसका आश्रय होगा ?

'तुम्हारे इष्टदेव तुम्हें मिल जायँगे ।'

'मेरे इष्टदेव ?'

'हाँ जयदेव, जगन्नाथके रूपमें मैं तुम्हारा इष्ट नहीं । तुम्हारे इष्टदेव तो हैं 'राधा-माधव' । वे राधा-माधव तुम्हें मिल जायेंगे ।'

'किस रूपमें भगवन् ?'

'मूर्तिके रूपमें । उस मूर्तिको लेकर तुम केन्दुबिल्व चले जाओ ।'

'उसके बाद ?'

'उससे आगेकी राह तुम्हें राधा-माधव बतलायेंगे ।'

समय आया तो उन्हें राधा-माधवकी मूर्ति मिल गयी । उस विग्रहको लेकर वे पद्मावतीके साथ केन्दुबिल्वकी ओर चल खड़े हुए ।

अब केन्दुबिल्व—जयदेवकी जन्मभूमि, जहाँके कण-कणसे जयदेवका परिचय था, जहाँ वामादेवीने उन्हें गोदमें लेकर चुमकारा था, जहाँ भोजदेवने उन्हें पिताका प्यार-दुलार दिया था, वहाँ जयदेवने अपनी झोपड़ी डाली । दीवारें बन चुकीं, लकड़ी-बाँसका ठाठ होने लगा । जयदेव छप्परपर बैठकर ठाठ बाँध रहे थे, पद्मावती नीचेसे रस्सी देती जा रही थी । इसी समय पद्मावती किसी कामसे कमरेसे बाहर चली गयी; लेकिन जयदेवका काम नहीं रुका । नीचेसे रसरी बराबर आती रही और जयदेव बाँसका ठाठ बाँधते रहे । सहसा उन्होंने पद्मावतीको आते देखा तो उनका ध्यान उस ओर गया ।

पूछने लगे—'तुम तो उधर चली गयी थी, यहाँ थी नहीं; फिर नीचेसे रस्सी कौन दे रहा था ?'

पद्मावतीने कहा—'मैं तो यहाँ थी ही नहीं, फिर रस्सी देगा कौन ?'

जयदेव आश्चर्यचकितभावसे बोले—'मगर रस्सी नीचेसे बराबर मिल रही थी ।'

जयदेव छप्परसे नीचे उतरे । कमरेमें आकर देखा तो कोई नहीं, केवल राधा-माधवकी मूर्ति है और उसी मूर्तिके हाथमें रस्सीके रेशे लगे हुए हैं । तब सब समझमें आ गया । सारा काम तुम्हारा है ।............ छलिया माधव !........

तो राधा-माधव ही उन्हें ठाठ बाँधनेमें सहायता पहुँचा रहे थे !

अब तो परिवारमें जैसे चार व्यक्ति हो गये—राधा और माधव, जयदेव और पद्मावती । कविताकी रस-धारा बहने लगी, राधा-कृष्णके गुणगान होने लगे । जयदेव कविता बनाते, पद्मावती उसे गा उठती । जैसे कोकिला कूक उठी हो, जैसे वीणा झंकृत हो रही हो, जैसे मुरज बजता हो, जैसे विपञ्ची गाती हो । मृदङ्ग बजाते हुए जब जयदेव राधा और माधवके गीत गाने लगते, तब पद्मावती नाचने लगती; जैसे मोर नृत्य करता हो, जैसे फूलोंसे भरी टहनी हिलती हो, जैसे लहरियाँ नृत्य करती हों । जयदेवको भाव मिलते थे और उसी भावमें विभोर होकर पद्मावती दोलायमान हो उठती । दोनोंके मन भक्तिभावनाओंकी रिमझिममें भींगने लगते । दोनोंके तन नृत्य-निरत हो उठते । अहा, कैसे अनिर्वचनीय भावोंके मधुमिश्रित चित्र हैं ! राधा और कृष्ण यमुना-पुलिनपर विहार कर रहे हैं, वसन्तकालके वासन्ती कुसुमके समान राधा विरहमें पीली पड़ गयी है, श्रीकृष्णके ललाटका चन्दन ऐसा प्रतीत होता है जैसे मेघमालामें आवृत चन्द्रमा संचरण कर रहा हो । केन्दुबिल्वका वह घर जैसे वृन्दावन बन गया । दोनों गाते-बजाते, नृत्य करते और राधा-कृष्णके गुणगानमें विभोर रहते । रसभरे भाव और भावभरी भाषा । जयदेवसे पहले संस्कृत-भाषाका ऐसा प्राञ्जल और मधुर रूप किसीने नहीं देखा था ।

वंशीध्वनिके समान बंगालके हृदय-निकुञ्जमें जयदेवकी कविताएँ गूँजने लगीं । उमड़ता हुआ उनका यशोगान नदियाके राजा लक्ष्मणसेनके पासतक पहुँचा । उनके दरबारमें पहलेसे ही उमापतिधर, शरण, गोवर्धनाचार्य और धोयी नामके चार कवि थे; फिर भी राजा लक्ष्मण-सेनने आदरके साथ जयदेवको भी अपने दरबारमें कवि बनाया । राजा लक्ष्मणसेन भी विद्वान् तथा विद्यारसिक थे । उनके लिखे हुए कई श्लोक श्रीरूपगोस्वामीकी 'पद्यावली' में मिलते हैं । किसी-किसीका कहना है कि 'गीत-गोविन्द' का पहला श्लोक राजा लक्ष्मणसेनका ही रचा हुआ है ।

इधर जयदेव राजकवि हुए, उधर पद्मावती राजाके अन्तःपुरमें रानीकी सखी निर्वाचित हुई । दिन बीतने लगे । इसी समय जयदेवने 'गीत-गोविन्द' की रचना की थी ।

जयदेव गीत-गोविन्दकी रचनामें तन्मय हैं । खण्डिता प्रकरण है, दशम सर्ग । जयदेव गुनगुना रहे हैं और लिख रहे हैं—

वदसि यदि किंचिदपि दन्तरुचिकौमुदी
हरति दर-तिमिरमतिघोरम् !

प्रिये ! यदि तुम मुझसे टुक बोल दो तो तुम्हारी दशन-कान्तिकी ज्योत्स्नासे मेरे हृदयका घना अन्धकार दूर हो जायगा ।

दूसरा श्लोक लिखा, तीसरा लिखा, चौथा, पाँचवाँ.......उसके बाद आठवाँ श्लोक आरम्भ हुआ—

'स्मर-गरल-खण्डनं मम शिरसि मण्डनम् !

(मदनरूपी हलाहलको खण्डन करनेवाला यह मेरे सिरका आभूषण हो ।)

परंतु क्या ?

'धेहि पदपल्लवमुदारं !!'

(मनोकामना पूर्ण करनेवाले तुम्हारे पदपल्लव !!)

····और कविकी लेखनी यहीं रुक गयी ।

नहीं-नहीं, यह कभी नहीं लिख सकूँगा । आराध्य देवता श्रीकृष्णजीके मस्तकपर राधाजीके पाँव ! ····असह्य है, यह नहीं होगा । यह नहीं लिखा जा सकेगा ।' कभी नहीं ! और जयदेवने पोथीको कपड़ेमें लपेटकर रख दिया । स्नानका समय था । नदीमें नहाने चले गये । मनमें वही बात घूम रही थी—

'स्मर-गरल-खण्डनं मम शिरसि मण्डनं !'

उसके बाद····उसके बाद ?····श्रीकृष्ण पुरुष हैं, राधा प्रकृति····पुरुषके मस्तकपर प्रकृतिके चरण ! नहीं, यह नहीं हो सकेगा, कदापि नहीं हो सकेगा ।········

जयदेव स्नान करने गये थे, किंतु फिर घरमें दिखलायी पड़े । पद्मावतीको पुकारकर बोले··········· 'अभी जो पोथी लिख रहा था, वह कहाँ है ?'

पद्मावतीने कहा—'स्वयं पोथीको लपेटकर रख गये हो और तुम्हें ही पता नहीं ? वह देखो, पोथी वहाँ रखी है ।'

जयदेव वहाँ गये, पोथीका वेष्टन खोला, उस पन्नेको देखा जहाँ आगे लिखना बाकी था । जयदेवने मुस्कुराकर कलम उठायी और लिख दिया—

'धेहि पदपल्लवमुदारं !'

पुरुष अचञ्चल है, क्रियाहीन है, शिव है, शव है। राधा प्रकृतिके रूपमें चञ्चल हैं, क्रियाशील हैं । वे शवको प्राणवान् और शिवको जाग्रत् बना देती हैं । उनकी कृपासे ही पाँचों निर्जीव तत्त्वोंमें जीवन आता है और यह नश्वर काया खड़ी हो जाती है । प्रकृति कुपित होती है तो हंसा उड़ जाता है, शिव चला जाता है और शव बच रहता है । प्रकृतिके पाँव पुरुषके मस्तकपर पड़ते ही हैं, पुरुष इसमें प्रकृतिकी उदारता पाता है, इसीसे उसकी वाञ्छा पूर्ण होती है । जयदेवने यह लिख दिया और स्नान करने चले गये ।

मगर यह क्या ? अभी ही गये और अभी ही स्नान करके चले आये । पद्मावती चौंक उठी । बोली—'अभी ही तो तुम स्नान करने निकले थे और अभी ही आ गये ?'

'अभी कैसे ?' जयदेवने कहा—'तुम्हारे सामने ही तो निकला था । बड़ी देर हुई ।'

पद्मावती बोली—'किंतु तुम फिर आये ।'

'मैं फिर आया ?'

'हाँ, तुम आये और मुस्कुराते हुए पूछा—'मैं जो पोथी लिख रहा था, वह कहाँ है ?' मैंने कहा—'स्वयं पोथी लपेटकर रख गये हो और तुम्हें ही पता नहीं ?' और तब तुमने पोथी खोली, उसपर कुछ लिखा और मुस्कुराते हुए चले गये । तुम्हें बात बनाना खूब आता है । मैं सब समझती हूँ । छलिया !'

'मैं छलिया नहीं !' जयदेवने कहा—'वह कोई दूसरा छलिया होगा । न मैं आया और न मैंने कुछ लिखा । यदि मैंने पोथीमें कुछ लिखा होगा तो वह वहाँ होगा ही ।'

पद्मावतीको विश्वास नहीं हुआ । बोली—'तुम्हीं आये थे, तुमने ही लिखा था । जो तुमने लिखा है, वह पोथीमें होगा ही ।'

पद्मावतीकी बातपर जयदेवको विश्वास नहीं हुआ । उन्होंने पोथी खोलकर देखा—

'स्मर-गरल-खण्डनं मम शिरसि मण्डनं
धेहि पदपल्लवमुदारम् !'

यह क्या ? बात पूर्ण हो गयी। शङ्काका समाधान हो गया। पुरुष सर्वत्र सर्वव्यापक है और अडिग, अडोल, निश्चल और स्थिर है। प्रकृति गतिशील और चञ्चल है। पुरुषके सिरपर प्रकृतिके पाँव पड़ते ही हैं। किंतु यह लिखा किसने ?

जयदेवने राधा-माधवकी मूर्तिकी ओर देखा और मूर्ति मुस्कुरा रही थी। जय हो माधव, जय हो, तेरी जय हो !....

महान् पुरुषोंकी यह विशेषता अपने स्वभावमें विकसित करें

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न, विद्याभास्कर)

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
(गीता २। ६५)

अर्थात् चित्त प्रसन्न रहनेसे सब दुःख दूर हो जाते हैं और बुद्धि स्थिर होती है।

महान् पुरुषोंमें दृढ़ इच्छाशक्ति, अपने कार्य और उद्देश्यके प्रति अटूट लगन तथा अध्यवसाय होता है। पर उनके स्वभावकी एक और विशेषता है। हिंदू देवी-देवता, हमारे श्रीकृष्ण, राम, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, लक्ष्मी, सरस्वती इत्यादि सबके भव्य मुखमण्डलपर एक मधुर धीमी-धीमी मुस्कराहट अवश्य रहती है, मधुर मन्दमुस्कराहट।

एक विद्वान्के शब्दोंमें, 'देखिये, भगवान् भास्कर आते हैं, तो मुस्कराते हुए और जाते भी हैं मुस्कराते हुए। महान् पुरुषोंकी यही विशेषता है। वे सदा जीवनको मुस्कराते हुए व्यतीत करते हैं। झुलसाती हुई गर्मी हो या हाड़ कँपाती हुई सर्दी, दुःखोंका सागर लहराये या वेदनाओंकी नदी बाढ़पर आये—वे अपने मुखकी मधुर लालिमाको नहीं छोड़ते।'

और आप उदास हैं

यह क्या ! आप उदास हैं। पत्थरकी निष्प्राण मूर्तिके समान मौन, स्थिर और अटल खड़े हैं। वृक्षकी तरह निस्पन्द और अडिग गमगीन ठहरे हुए हैं। चेहरेपर मृत्यु-जैसी उदासी छायी है, जैसे चन्द्रमापर काले मेघ !

आपका पुष्प-सा मधुर मुख मुरझाया, शरीर थका-थका और तबियत निढाल है। किसी काममें उत्साह नहीं हो रहा है। अङ्ग शिथिल और मन भारी, किसी काममें तबियत नहीं लग रही है। मनहूसियत बरस रही है और उदासियाँ-जैसे चैन नहीं लेने दे रही हैं।

आप घरसे, परिवारसे और मौजूदा हालतसे परेशान होकर सोचते हैं कि क्या करें ? कहीं चले जायँ ? सिर भारी है, इन्द्रियाँ गिरी-गिरी-सी हैं, आँखोंमें थकान है, तो हृदयमें जोश और उत्साहका नाम-निशान नहीं। जगत्-जैसा जंजाल लगता है, तो परिवार भारस्वरूप प्रतीत होता है।

यह उदासी एक मनोवैज्ञानिक रोग है। अंग्रेजीमें इसे 'मेलनकोलिया' कहते हैं। उदासी नामक मानसिक रोगसे पीड़ित रोगी सदा गम्भीर और नैराश्यकी मुद्रा बनाये रहता है। ऐसा मालूम होता है जैसे वह किसी मुर्देका दाहकर्म कर श्मशानसे लौट रहा हो। 'मेलनकोलिया' का रोगी सदा गम्भीर नैराश्य-मुद्रा बनाये रहता है। घर, परिवार, मुहल्ले, नगर, समाज, कलाके किसी कार्यमें दिलचस्पी नहीं लेता। मित्रों और लोगोंसे मिलने-बरतनेमें सकुचाता-शर्माता है, मनोरञ्जन-कार्यक्रम, संगीत, नृत्य, प्रातःकालकी सैर, भगवान्की पूजा, कीर्तन, आराधना, खेल-तमाशों, उत्सवोंमें भाग नहीं लेता। वह छोटे शिशुओं-से नहीं खेलता। अपनी पत्नी, माता, बहिन, परिवार आदिसे भी सदा खिंचा—तना-सा ही रहता है। किसी भी रुचिके कार्यमें उसका मन नहीं लगता और वह अपने आपको एक असफल आदमी समझता है।

उदासीसे सावधान रहें

उदासी भी छूतके रोगके समान भयानक है। यह जीवन-पुष्पको मुरझा देनेवाला भयावह झंझावात है । इसे पास न फटकने दें ।

कोई सुरम्य वाटिका हो, उसमें रंगीन मदभरे उत्साहसे परिपूर्ण छोटे-छोटे कोमल सौरभयुक्त कमनीय फूल विहँस रहे हों; पर कल्पना कीजिये, यदि अचानक इधर-उधर अग्नि लग जाय और धीरे-धीरे आकर इन पुष्पोंसे लदे हुए पौधोंको झुलसा दे; तो कैसी दुरवस्था होगी ।

उदासी आनेपर हम इसी प्रकार अपने हृदयकी लोनी-लोनी कमनीय भावनाओं, विहँसती हुई महत्त्वाकाङ्क्षाओं, सद्भावनाओं और प्रेम-सहानुभूतिकी कलिकाओंको असमयमें ही झुलसा देते हैं ।

निराशा यदि अग्नि है तो उदासी चितामेंसे उठनेवाला विषैला धुआँ । जैसे काला-काला धुआँ सफेदीसे पुते हुए श्वेत घरको काला बना देता है, जिसमें फिर बैठने या ठहरनेको मन नहीं करता, उसी प्रकार उदास बने रहनेवाले व्यक्तिकी आत्मा सदा अतृप्त और व्यग्र बनी रहती है । हमारी आत्मा सदा-सर्वदा मुस्कराते-विहँसते, खिले हुए भगवान्का अंश है । भगवान्की मूर्ति सदा मधुर-मधुर मुस्कराहटसे खिली रहती है । उनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग चमकता-दमकता रहता है । इसलिये उदास रहकर हम अपने आनन्द-तत्त्वका ह्रास करते हैं, परमात्माका अपमान करते हैं । मुस्कराना और प्रसन्न रहना हमारी आत्माका गुण है ।

आप रूखे-सूखे व्यक्ति न रहें

डेल कार्नेगीकी प्रसिद्ध पुस्तक 'मित्र बनाने और जनताको प्रभावित करनेकी विधियाँ' (अनुवादक श्रीसंतराम) ने मुस्कराहटपर एक स्वतन्त्र लेख लिखा है । उनके अनुसार मुस्कराहट लोगोंमें प्यारा बननेकी रामबाण विधि है । यह मनुष्यके व्यक्तित्वकी मोहिनी शक्ति है । कार्नेगीके शब्दोंपर ध्यान दीजिये—

'कर्मोंकी ध्वनि शब्दोंसे ऊँची होती है । मुस्कानका अर्थ होता है, 'मैं तुम्हें पसंद करता हूँ । तुम मुझे सुखी बनाते हो । तुमसे मिलकर मुझे प्रसन्नता हुई है ।' यही कारण है कि हमें कुत्ते इतने अच्छे लगते हैं । वे हमें देखकर इतने प्रसन्न होते हैं कि उछल पड़ते हैं । इसलिये स्वभावतः हम उनसे मिलकर प्रसन्न होते हैं ।

मनमें कपट रखकर बाहरकी मुस्कराहटसे आप किसीको मूर्ख नहीं बना सकते । हम जानते हैं कि यह दिखलावेकी मुस्कान है । इसलिये हम उसे बुरा मानते हैं । मैं सच्ची मुस्कानकी, उत्साह और स्नेहपूर्ण मुस्कानकी, अन्तस्तलसे निकलनेवाली मुस्कानकी—हाँ, उस प्रकारकी मुस्कानकी बात कर रहा हूँ, जिसका बाजारमें अच्छा मोल मिल सकता है । यदि आप चाहते हैं कि लोग आपसे प्रसन्नतापूर्वक मिलें, तो आपको उनसे मधुर मुस्कराहटके साथ मिलना चाहिये ।

दूकानोंके विषयमें चर्चा करते हुए फ्रेंक इर्विंग फ्लेचरने ओपनहीम, कॉलिन्स एंड कम्पनीके लिये 'क्रिसमसमें मुस्कराहटका मूल्य' शीर्षक एक विज्ञापन दिया है जिसमें उन्होंने साधारण तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया है । उसे कार्नेगीकी पुस्तकसे यहाँ उद्धृत किया जाता है, देखिये—

'मुस्कराहटपर खर्च कुछ नहीं आता, परंतु यह पैदा बहुत करती है । इसे पानेवाले मालामाल हो जाते हैं, परंतु देनेवाले भी दरिद्र नहीं हो जाते ।

'मुस्कराहट एक क्षणमें उत्पन्न होती है, पर इसकी मधुर स्मृति कभी-कभी सदाके लिये बनी रहती है ।

'कोई मनुष्य इतना धनी नहीं कि जिसका इसके बिना निर्वाह हो सके और न कोई इतना दरिद्र है, जो मुस्कराहटके लाभोंसे धनी न हो ।

'मुस्कराहट हर परिवारमें सुख उत्पन्न करती है, आपके व्यापारमें ख्याति बढ़ाती है और समर्थनके लिये किया हुआ मित्रोंका हस्ताक्षर है ।

'मुस्कराहट थके हुएके लिये विश्राम है, हतोत्साहके लिये दिनका प्रकाश, ठिठुरेके लिये धूप है, कष्टके लिये प्रकृतिका सर्वोत्तम प्रतीकार है ।

'तो भी मुस्कराहट मोल नहीं ली जा सकती, माँगी नहीं जा सकती, उधार नहीं ली जा सकती, या चुरायी नहीं जा सकती; क्योंकि जबतक यह दी न जाय, तबतक संसारमें यह किसीके

'स्मर-गरल-खण्डनं मम शिरसि मण्डनं
धेहि पदपल्लवमुदारम् !'

यह क्या ? बात पूर्ण हो गयी । शङ्काका समाधान हो गया । पुरुष सर्वत्र सर्वव्यापक है और अडिग, अडोल, निश्चल और स्थिर है । प्रकृति गतिशील और चञ्चल है । पुरुषके सिरपर प्रकृतिके पाँव पड़ते ही हैं। किंतु यह लिखा किसने ?

जयदेवने राधा-माधवकी मूर्तिकी ओर देखा और मूर्ति मुस्कुरा रही थी । जय हो माधव, जय हो, तेरी जय हो !....

महान् पुरुषोंकी यह विशेषता अपने स्वभावमें विकसित करें

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न, विद्याभास्कर)

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
(गीता २ । ६५)

अर्थात् चित्त प्रसन्न रहनेसे सब दुःख दूर हो जाते हैं और बुद्धि स्थिर होती है ।

महान् पुरुषोंमें दृढ़ इच्छाशक्ति, अपने कार्य और उद्देश्यके प्रति अटूट लगन तथा अध्यवसाय होता है । पर उनके स्वभावकी एक और विशेषता है । हिंदू देवी-देवता, हमारे श्रीकृष्ण, राम, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, लक्ष्मी, सरस्वती इत्यादि सबके भव्य मुखमण्डलपर एक मधुर धीमी-धीमी मुस्कराहट अवश्य रहती है; मधुर मन्दमुस्कराहट ।

एक विद्वान्के शब्दोंमें, 'देखिये, भगवान् भास्कर आते हैं, तो मुस्कराते हुए और जाते भी हैं मुस्कराते हुए। महान् पुरुषोंकी यही विशेषता है । वे सदा जीवनको मुस्कराते हुए व्यतीत करते हैं । झुलसाती हुई गर्मी हो या हाड़ कँपाती हुई सर्दी; दुःखोंका सागर लहराये या वेदनाओंकी नदी बाढ़पर आये—वे अपने मुखकी मधुर लालिमाको नहीं छोड़ते ।'

और आप उदास हैं

यह क्या ! आप उदास हैं । पत्थरकी निष्प्राण मूर्तिके समान मौन, स्थिर और अटल खड़े हैं । वृक्षकी तरह निस्पन्द और अडिग गमगीन ठहरे हुए हैं । चेहरेपर मृत्यु-जैसी उदासी छायी है, जैसे चन्द्रमापर काले मेघ !

आपका पुष्प-सा मधुर मुख मुरझाया, शरीर थका-थका और तबियत निढाल है । किसी काममें उत्साह नहीं हो रहा है । अङ्ग शिथिल और मन भारी, किसी काममें तबियत नहीं लग रही है । मनहूसियत बरस रही है और उबासियाँ-जैसे चैन नहीं लेने दे रही हैं ।

आप घरसे, परिवारसे और मौजूदा हालतसे परेशान होकर सोचते हैं कि क्या करें ? कहीं चले जायँ ? सिर भारी है, इन्द्रियाँ गिरी-गिरी-सी हैं, आँखोंमें थकान है, तो हृदयमें जोश और उत्साहका नाम-निशान नहीं । जगत्-जैसा जंजाल लगता है, तो परिवार भारस्वरूप प्रतीत होता है ।

यह उदासी एक मनोवैज्ञानिक रोग है । अंग्रेजीमें इसे 'मेलनकोलिया' कहते हैं । उदासी नामक मानसिक रोगसे पीड़ित रोगी सदा गम्भीर और नैराश्यकी मुद्रा बनाये रहता है । ऐसा मालूम होता है जैसे वह किसी मुर्देका दाहकर्म कर श्मशानसे लौट रहा हो । 'मेलनकोलिया' का रोगी सदा गम्भीर नैराश्य-मुद्रा बनाये रहता है । घर, परिवार, मुहल्ले, नगर, समाज, कलाके किसी कार्यमें दिलचस्पी नहीं लेता । मित्रों और लोगोंसे मिलने-बरतनेमें सकुचाता-शर्माता है, मनोरञ्जन-कार्यक्रम, संगीत, नृत्य, प्रातःकालकी सैर, भगवान्की पूजा, कीर्तन, आराधना, खेल-तमाशों, उत्सवोंमें भाग नहीं लेता । वह छोटे शिशुओंसे नहीं खेलता । अपनी पत्नी, माता, बहिन, परिवार आदिसे भी सदा खिंचा—तना-सा ही रहता है । किसी भी रुचिके कार्यमें उसका मन नहीं लगता और वह अपने आपको एक असफल आदमी समझता है ।

उदासीसे सावधान रहें

उदासी भी छूतके रोगके समान भयानक है। यह जीवन-पुष्पको मुरझा देनेवाला भयावह झंझावात है। इसे पास न फटकने दें।

कोई सुरम्य वाटिका हो, उसमें रंगीन मदभरे उत्साहसे परिपूर्ण छोटे-छोटे कोमल सौरभयुक्त कमनीय फूल विहँस रहे हों; पर कल्पना कीजिये, यदि अचानक इधर-उधर अग्नि लग जाय और धीरे-धीरे आकर इन पुष्पोंसे लदे हुए पौधोंको झुलसा दे, तो कैसी दुरवस्था होगी।

उदासी आनेपर हम इसी प्रकार अपने हृदयकी लोनी-लोनी कमनीय भावनाओं, विहँसती हुई महत्त्वाकाङ्क्षाओं, सद्भावनाओं और प्रेम-सहानुभूतिकी कलिकाओंको असमयमें ही झुलसा देते हैं।

निराशा यदि अग्नि है तो उदासी चितामेंसे उठनेवाला विषैला धुआँ। जैसे काला-काला धुआँ सफेदीसे पुते हुए श्वेत घरको काला बना देता है, जिसमें फिर बैठने या ठहरनेको मन नहीं करता, उसी प्रकार उदास बने रहनेवाले व्यक्तिकी आत्मा सदा अतृप्त और व्यग्र बनी रहती है। हमारी आत्मा सदा-सर्वदा मुस्कराते-विहँसते, खिले हुए भगवान्‌का अंश है। भगवान्‌की मूर्ति सदा मधुर-मधुर मुस्कराहटसे खिली रहती है। उनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग चमकता-दमकता रहता है। इसलिये उदास रहकर हम अपने आनन्द-तत्त्वका ह्रास करते हैं, परमात्माका अपमान करते हैं। मुस्कराना और प्रसन्न रहना हमारी आत्माका गुण है।

आप रूखे-सूखे व्यक्ति न रहें

डेल कार्नेगीकी प्रसिद्ध पुस्तक 'मित्र बनाने और जनता-को प्रभावित करनेकी विधियाँ' (अनुवादक श्रीसंतराम) ने मुस्कराहटपर एक स्वतन्त्र लेख लिखा है। उनके अनुसार मुस्कराहट लोगोंमें प्यारा बननेकी रामबाण विधि है। यह मनुष्यके व्यक्तित्वकी मोहिनी शक्ति है। कार्नेगीके शब्दोंपर ध्यान दीजिये—

'कर्मोंकी ध्वनि शब्दोंसे ऊँची होती है। मुस्कानका अर्थ होता है, 'मैं तुम्हें पसंद करता हूँ। तुम मुझे सुखी बनाते हो। तुमसे मिलकर मुझे प्रसन्नता हुई है।' यही कारण है कि हमें कुत्ते इतने अच्छे लगते हैं। वे हमें देखकर इतने प्रसन्न होते हैं कि उछल पड़ते हैं। इसलिये स्वभावतः हम उनसे मिलकर प्रसन्न होते हैं।

मनमें कपट रखकर बाहरकी मुस्कराहटसे आप किसी-को मूर्ख नहीं बना सकते। हम जानते हैं कि यह दिखलावेकी मुस्कान है। इसलिये हम उसे बुरा मानते हैं। मैं सच्ची मुस्कानकी, उत्साह और स्नेहपूर्ण मुस्कानकी, अन्तस्तलसे निकलनेवाली मुस्कानकी—हाँ, उस प्रकारकी मुस्कानकी बात कर रहा हूँ, जिसका बाजारमें अच्छा मोल मिल सकता है। यदि आप चाहते हैं कि लोग आपसे प्रसन्नतापूर्वक मिलें, तो आपको उनसे मधुर मुस्कराहटके साथ मिलना चाहिये।

दूकानोंके विषयमें चर्चा करते हुए फ्रेंक इर्विंग फ्लेचरने ओपनहीम, कॉलिन्स एंड कम्पनीके लिये 'क्रिसमसमें मुस्कराहटका मूल्य' शीर्षक एक विज्ञापन दिया है जिसमें उन्होंने साधारण तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया है। उसे कार्नेगीकी पुस्तकसे यहाँ उद्धृत किया जाता है, देखिये--

'मुस्कराहटपर खर्च कुछ नहीं आता, परंतु यह पैदा बहुत करती है। इसे पानेवाले मालामाल हो जाते हैं; परंतु देनेवाले भी दरिद्र नहीं हो जाते।

'मुस्कराहट एक क्षणमें उत्पन्न होती है, पर इसकी मधुर स्मृति कभी-कभी सदाके लिये बनी रहती है।

'कोई मनुष्य इतना धनी नहीं कि जिसका इसके बिना निर्वाह हो सके और न कोई इतना दरिद्र है, जो मुस्कराहट-के लाभोंसे धनी न हो।

'मुस्कराहट हर परिवारमें सुख उत्पन्न करती है, आपके व्यापारमें ख्याति बढ़ाती है और समर्थनके लिये किया हुआ मित्रोंका हस्ताक्षर है।

'मुस्कराहट थके हुएके लिये विश्राम है, हतोत्साहके लिये दिनका प्रकाश, ठिठुरेके लिये धूप है, कष्टके लिये प्रकृति-का सर्वोत्तम प्रतीकार है।

'तो भी मुस्कराहट मोल नहीं ली जा सकती, माँगी नहीं जा सकती, उधार नहीं ली जा सकती, या चुरायी नहीं जा सकती; क्योंकि जबतक यह दी न जाय, तबतक संसारमें यह किसीके

कुछ कामकी नहीं। अतः यदि आप लोगोंका प्यारा बनना चाहते हैं तो मुस्कराइये।'

ऊपरकी पंक्तियोंमें जीवनको मधुर बनानेके लिये बड़े उपयोगी संकेत भरे पड़े हैं। वास्तवमें उदासी बड़ी बुरी मानसिक आदत है। यह सुन्दर चेहरेको भी कुरूप बना देती है। उदासी व्यक्तिके प्रति घृणा पैदा करती है, तो मुस्कराहट आकर्षण।

उदासीसे मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ निर्बल हो जाती हैं, मुस्कराहटसे शरीर तथा मनकी सोयी हुई शक्तियाँ भी जैसे जाग उठती हैं। प्रायः उदासीके कारण शारीरिक अथवा मानसिक थकावट पैदा होती हैं। एक ही परिस्थिति अथवा एक ही कार्य करते-करते हम थक जाते हैं। इसलिये उदासी दूर करनेके लिये हमें कोई नया कार्य, कोई नयी परिस्थिति—नये लोगोंसे सम्पर्क स्थापित करना चाहिये। जिस कामसे हम थक गये हैं, उसे छोड़कर कोई नया काम प्रारम्भ करना चाहिये।

सुखद वातावरण बनाइये

उदासीका सम्बन्ध सम्पर्कसे है। यदि आप उदास, गम्भीर और चिन्तनशील प्रकृतिके व्यक्तियोंके साथ रहें तो निश्चय ही उनका स्वभाव आपमें भी विकसित हो जायगा। आप भी रोते रहेंगे।

ऐसे व्यक्तियोंके साथ रहिये, जो फूलकी तरह तरो-ताजा और खिले हुए हैं और जो चिन्ताओंसे अधीर नहीं होते।

अपने चारों ओर हिंदू देवी-देवताओंके मुस्कराते हुए चित्र रखिये। भगवान् बालकृष्णका मधुर बालरूप, भगवान् श्रीरामचन्द्रकी बालक्रीड़ाएँ देखा कीजिये। आपको मुस्कराते हुए अनेक भव्य सुन्दर चित्र बाजारमें मिलेंगे। ऐसे चित्र एकत्रित कीजिये जिनमें मनुष्य खेल रहे हों। स्वयं अपना ऐसा चित्र खिंचवाइये; जिसमें आप पूर्ण प्रसन्न और अपनी सबसे आकर्षक मुद्रामें हैं। बच्चोंके ऐसे चित्र सजाइये, जिनमें प्रसन्नता ही सर्वत्र बिखर रही हो। ऐसे मधुर वातावरणमें रहनेसे आप भी प्रसन्न रहनेका स्वभाव बना सकेंगे।

मेरा एक निजी अनुभव कदाचित् आपकी सहायता कर सकेगा। मुझे जब उदासी आती है, तब मैं अपने बच्चोंके साथ बच्चा बनकर ही खेलता हूँ। मैं थोड़ी देरके लिये अपना दुःख-दर्द भूलकर बालक ही बन जाता हूँ—सरलचित्त और आह्लादमय, कपट और चिन्तासे मुक्त, उदासीसे दूर। मित्र-समाजमें या मेरे मातहतोंमें अनेक व्यक्ति मेरे मित्र हैं; तो कुछ शत्रु भी हो सकते हैं, आदर-अनादर कर सकते हैं; किंतु ये सरल आनन्दस्वरूप शिशु तो सदैव ही मेरे मित्र हैं, मेरे दुःखोंको दूर करने तथा मुझमें नया उत्साह भरनेवाले हैं। इन बच्चोंके लिये काले, गोरे, अमीर, गरीब, हरिजन, सवर्ण—किसीके प्रति तुच्छ भेद-भाव नहीं, शिष्ट बननेका कृत्रिम दम्भ नहीं, परछिद्रान्वेषण या टीका-टिप्पणी करनेकी कमजोरी नहीं। बालक तो शुद्ध ब्रह्मरूप हैं। उनमें भगवान्का आनन्दमय स्वरूप खूब विकसित है। वह इस स्वार्थ और छल-छद्ममय संसारकी सांसारिकतासे दब नहीं गया है। प्रसन्न बनाये रखनेमें ये बालक ही मेरे गुरु हैं—पथप्रदर्शक हैं, शान्ति एवं जीवनके प्रति उत्साह दिलानेवाले सच्चे मित्र हैं। उनके सत्सङ्गमें रहकर, उनसे खेल-कूदकर उनके हृदयतन्त्रीसे झंकृत होकर मैं ईश्वरके आनन्दमय स्वरूपका अनुभव करता हूँ।

विकारमय काल्पनिक भयोंसे मुक्त रहें

आपकी उदासी आपके मनमें छिपे काल्पनिक भयोंके कुफल हैं। आप चुपचाप कुछ चिन्ताओंमें डूबे रहते हैं। आपने मनमें सांसारिक भार इकट्ठा कर रक्खा है। शायद **कोई ऐसा कटु अनुभव आपके गुप्त मनमें छिपा हुआ है, जो आपको उदास किये हुए है।**

हमारी सलाह मानिये और इन काल्पनिक भयोंको आज ही दूर कर दीजिये। अपने जीवनके कटु रूपपर, विफलताओं और परेशानियोंपर विचार मत कीजिये।

> अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
> गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥
> (गीता २।११)

अर्थात् मनुष्यको चाहिये कि वह न शोक करनेयोग्य क्षणिक वस्तुओंके लिये कदापि देरतक शोक न करे। पण्डित वे हैं, जो मरे हुओं तथा जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये शोक नहीं करते; क्योंकि आत्मा नित्य है। इसलिये शोक करना और सदा उदास बने रहना उचित नहीं।

और यदि आप कहें कि हम तो अपने प्रिय, स्वर्गवासी, परिजनोंसे वियोगपर शोक करते हैं, तो यह भी उचित नहीं है; क्योंकि—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(गीता २ । २२)

अर्थात् भगवान् कहते हैं कि जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको पहन लेता है, उसी तरह हमारा जीवात्मा भी पुराने जीर्ण शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीर धारण कर लेता है। इस आत्माको कोई नहीं काट सकता, इसको आग नहीं जला सकती; इसको जल नहीं गीला कर सकता और वायु नहीं सुखा सकती। अतः मरे हुए शरीरोंके लिये परेशान न रहें। भविष्यकी उज्ज्वलतापर दृष्टि रक्खें। कष्टदायक स्मृतियोंको सँजोना मानसिक हत्या करनेके बराबर है।

भजन-पूजन तथा भगवान्‌के आनन्दस्वरूपका चिन्तन, कीर्तन आनन्दमय बननेका एक उत्तम उपाय है। अतः कभी-कभी 'ॐ आनन्द, ॐ आनन्द' का जाप किया कीजिये। इसी प्रकार गायत्री-जैसे गुणकारी मन्त्रका जाप या 'रघुपति राघव राजाराम, पतितपावन सीताराम' अथवा भजन—भक्ति-संगीतका रस लीजिये।

संगीतमें कुछ ऐसी आनन्ददायिनी शक्ति है, जिसमें तन और मनकी उदासी दूर होकर ताजगी आती है। कोई हर्ज नहीं, यदि आप अच्छे गायक नहीं हैं। भक्तिरससे भरे कुछ भजन (जैसे गीताप्रेससे प्रकाशित भजन-संग्रह)—सूर, तुलसी या मीराबाईके भक्तिरसपूर्ण भजन धीरे-धीरे प्रेमसे गुनगुनाइये। लीजिये, आपकी उदासी दूर हो गयी।

प्रकृतिका सौन्दर्य लूटिये

जब आप परेशान हों, तो कुछ देरके लिये बाहरके स्वास्थ्यप्रद स्वच्छन्द वातावरणमें घूमने निकल जाइये। आजकलका जीवन सभ्यताके बनावटी वातावरणमें बुरी तरह बँध गया है। हम मशीन-जैसे पुर्जे बन गये हैं।

आवश्यकता है कि हम प्रकृतिके मनोरम दृश्यों, सरिता-तटों, लहलहाते खेतों, हरे-भरे वृक्ष और घाससे बिछे उद्यानों-की शीतल विमल वायुका आनन्द लें। उज्ज्वल कल्पनाकी सहायतासे अपने मधुर भविष्यके चित्र बनायें और आनन्दमय बने रहें। अच्छे प्राकृतिक वातावरणमें निवास करनेसे हमारी मानसिक यातनाएँ दूर होती हैं। चिन्ताके बड़े-बड़े पर्वत चूर-चूर हो उड़ जाते हैं।

मेरे एक मित्र चित्रकार हैं। उनका अधिकांश समय चित्रकलाके अभ्यासमें व्यतीत होता है। जब कभी वे उदास होते हैं, चित्रकारीका सामान लेकर प्रसन्न मुद्रामें चित्रोंकी सृष्टि करने बैठ जाते हैं। आनन्दमय विचारोंसे अपने मन और हृदयको पूरी तरह भर लेते हैं। वे प्रायः अपने अनुभव सुनाते हुए कहा करते हैं कि चित्रकलाके अभ्याससे भव्य कल्पनाएँ मनमें भरी रहती हैं और उनसे उदासी दूर हो जाती है। आप भी इस नुस्खेका उपयोग कर देखें।

मित्रो! प्रसन्न रहो। उदासी आपके लिये अप्राकृतिक तथा हानिकर है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है कि—चित्तको प्रसन्न रखनेसे मनुष्यके सब दुःख दूर हो जाते हैं, प्रसन्न चित्तवालेकी बुद्धि सदा स्थिर रहती है।

हममेंसे प्रत्येक व्यक्तिको श्रीयोन नागोचीकी निम्न प्रार्थना ईश्वरकी प्रतिमाके सामने करनी चाहिये—

'हे प्रभु! जब जिंदगीके कगारोंकी हरियाली सूख गयी हो, पक्षियोंका कलरव बंद हो गया हो, सूर्यपर ग्रहणकी छाया गहरी होती जा रही हो, परखे हुए मित्र और आत्मीय जन काँटोंके रास्तेपर मुझे अकेला छोड़कर चले गये हों और आसमानकी सारी नाराजी मेरी तकदीरपर बरसनेवाली हो, तब हे प्रभु! तुम मुझपर इतनी कृपा करना कि मेरे ओठोंपर हँसीकी एक उजली रेखा चमकती रहे।'

मित्रो! प्रसन्न रहो। जीवनभर मुस्कराते रहो।

हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

[पृष्ठ ७२६ से आगे]

श्रीमुक्तिनाथधाम

मुक्तिनाथधाम बहुत ही सुन्दर भूभागमें है। थाकटुकचेसे आगेके पहाड़ प्रायः वृक्षरहित—नंगे हैं। झुमसासे आगे भी पहाड़ोंपर वृक्ष बहुत कम हैं। काकवैनीसे आगे भी बहुत वृक्ष नहीं; किंतु झारकोटसे पहलेसे ही पीपलके पेड़ोंकी भरमार है। चारों ओर पीपल-ही-पीपल दिखायी देते हैं। नहरके कारण खेत भी हरे-भरे हैं। मुक्तिनाथमें बहुत-से पीपलके वृक्ष हैं। वहाँ कोई बस्ती नहीं। बौद्ध लामाकी ओरसे चार बौद्ध-भिक्षुणी रहती हैं, जिन्हें जुम्मा कहते हैं। एक पुजारी भी धर्मशालामें रहते हैं। एक अधवने मन्दिरमें गयाके एक वैष्णव साधु भी रहते हैं। इनके अतिरिक्त कोई नहीं। यात्री भी मेलोंके दिनोंको छोड़कर कोई विरले ही साधु-संत फक्कड़ आते हैं। वे दर्शन करके तुरंत लौट जाते हैं। रात्रिमें तो कोई विरले ही निवास करते हैं। हमारे साथ दो साधु हो लिये थे, हमारे आनेसे पहले ही वे मुक्तिनाथ होकर लौट रहे थे। मैंने कहा—अभी तो भगवान्के मन्दिरके पट भी नहीं खुले, आप बिना दर्शन किये क्यों लौटे जा रहे हैं ? उन्होंने कहा—हमने किवाड़ोंकी दरारसे दर्शन कर लिये, अब हम जा रहे हैं। उन्हें इतना भी धैर्य नहीं हुआ कि तीन बजे दर्शन करके ही जाते। बात यह है कि एक तो यहाँ ठंढ बहुत है। पानी बहुत शीतल है। खाने-पीनेका कोई प्रबन्ध नहीं, दुकान नहीं। धर्मशालाको छोड़कर कोई ठहरनेका प्रबन्ध नहीं। यहाँ-के भगवान् भी तपस्वी ही ठहरे। उनको नित्य भोग भी नहीं लगता। बिना खाये ही तपस्या करते रहते हैं। जिस मन्दिरमें भोग-प्रसाद न मिले, उसमें ठहरकर कोई क्या करे। प्रसादके ऊपर एक कथा याद आ गयी। एक सेठजीका बड़ा ही सुन्दर बहुत भव्य मन्दिर था। एक चौबेजी दर्शन करने गये। चौबेजीको पुजारियोंने न तुलसी दी, न चरणामृत। फिर मिष्टान्न प्रसादकी तो बात ही क्या ? चौबेजी मन्दिरको बड़ी चकित दृष्टिसे देखने लगे। इधर-उधर साश्चर्य देखते और जोर-जोरसे कहते जाते—'सेठजीने बड़ी अच्छी मसजिद बनवायी है।' किसी यात्रीने कहा—'चौबेजी ! बूटी अधिक छान आये हो क्या ? भगवान्के मन्दिरको मसजिद बता रहे हो ?'

चौबेजीने जोरसे कहा—'भैया ! जहाँ तुलसी नहीं, चरणामृत नहीं, मिष्टान्नप्रसाद नहीं, वह काहेका मन्दिर। वह तो मसजिद ही है—दो-चार बार उठो-बैठो, सिर रगड़कर चले आओ। मन्दिर तो वही है, जहाँ चकाचक घुटे।'

सेठजी सुन रहे थे। उन्होंने पुजारियोंसे कहा—'अरे, चौबेजीको चूरमाके चार मोदक दो।' मोदक पाते ही चौबे-जी कहने लगे—'अहा हा ! कैसा बढ़िया मन्दिर है !'

सो यहाँ लड्डू क्या, मुक्तिनाथमें तो रोटी भगवान्को भी दुर्लभ है।

मुक्तिनाथकी यहाँ पूजा कबसे आरम्भ हुई, इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। एक महात्मा यहाँ रहते थे, अभी थोड़े दिन हुए सौ-सवा-सौ वर्षकी अवस्थामें उनका देहान्त हो गया। वे कहीं उत्तर भारतके ही थे। उनका नाम था—बाबा बलरामदास। बड़े सिद्ध महात्मा माने जाते थे। थाकटुकचे-के थकाली सुब्बा ललितमानने इन्हींके द्वारा 'मुक्तिनाथ-सेवा-समिति' की स्थापना करायी थी। उनके शरीरान्तके पश्चात् फिर कोई साधु यहाँ नहीं रहा। अब चार-पाँच वर्षसे ये नये साधु आये हैं। मैंने पहले इन्हें बद्रीनाथमें देखा था। एक टूटे-फूटे मन्दिरमें घोड़ोंकी बहुत-सी लीद इकट्ठा करके उसके ऊपर गंदा कपड़ा बिछाये धूनी रमाये बैठे रहते हैं। बारहों महीने यहीं रहते हैं। जाड़ोंके लिये लकड़ी तथा घोड़ों-की लीद इकट्ठी रखते हैं। ठंढके कारण यात्री दर्शन करके नीचे उतर जाते हैं। नैपाल महाराजके भाई हमसे पाँच-सात दिन पहले आये थे। वे भी कुछ घंटे रहकर चले गये। रात्रिनिवास उन्होंने भी नहीं किया।

मुक्तिनाथ भगवान्का मन्दिर जैसे काठमांडूमें तीन खण्डवाले पहाड़ी ढंगके मन्दिर हैं, वैसा ही है। मन्दिर न बहुत बड़ा है, न छोटा। प्रथम द्वारपर ही दो कोठरियाँ हैं, जो खाली पड़ी थीं। भगवान्के मन्दिरका मुख उत्तर-पश्चिम-में है। चारों ओर ऊँची दीवाल है, परिक्रमा है। मन्दिर लगभग

दस-बारह फुट लंबा-चौड़ा है। उसमें एक पक्के चबूतरेकी भाँति सिंहासन है। उसीपर भगवान्‌की ताम्रमयी चतुर्भुजी भव्य प्रतिमा विराजमान है। भगवान् पद्मासनसे स्थित हैं। ऊपर सात फणोंके शेषनाग छाया कर रहे हैं। भगवान्‌के ऊपरके दोनों हाथोंमें शङ्ख-चक्र हैं। नीचेके दोनों हस्तकमल अभय-मुद्रामें हैं। दोनों ओर श्रीदेवी, भूदेवी लंबा करकमल किये खड़ी हुई हैं। सम्मुख गरुड़ भगवान् विराजमान हैं। सुनते हैं पहले भगवान्‌की छोटी पाषाण-प्रतिमा थी, लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व किसी राणाने इस ताम्रमयी विग्रहकी स्थापना की। उन्होंने ही मन्दिरका निर्माण कराया। कई गाँव मन्दिरके पीछे लगाये, जो गूँठके गाँव कहलाते हैं। उनसे मन्दिरको लगभग एक हजार मन प्रति वर्ष धानकी प्राप्ति होती थी। शीतके कारण नीचेका कोई आदमी यहाँ रहनेको उद्यत नहीं हुआ। तब यहाँ जो बारह ग्रामोंका धर्माधिकारी बौद्धलामा था, उसे ही मन्दिरका प्रबन्ध सौंपा गया। उसको ये आदेश दिये गये। पूजा वह स्वयं न करके किसी ब्राह्मणको रखकर उससे कराये। केवल मन्दिरका प्रबन्ध लामा करे। मन्दिरकी परिधिके भीतर घोड़ा-खच्चर न आने दे। मन्दिरके आसपासके वृक्षोंको कोई न काटे और जो चढ़ावा-भेंट आवे, वह मन्दिरके ही काममें लगे।

यहाँके बौद्ध तिब्बतके दलाईलामाके ही अधीन थे। इन बारह गाँवोंका पहले वह धार्मिक राजा ही माना जाता था। प्रत्येक गृहस्थीके सबसे बड़े लड़केको छोड़कर उससे छोटा चाहे लड़का हो या लड़की, उसे लामाको देना ही पड़ता है। जो लड़कियाँ भिक्षुणी होती हैं, उन्हें तीन वर्ष तीन महीने तीन दिन बिना पुरुष तथा सूर्यको देखे एकान्तमें तपस्या करनी पड़ती थी। इतने दिनोंतक वे सूर्य तथा पुरुषको बिना देखे एकान्तमें वास करती थीं। तब उन्हें बाहर काम करनेका अधिकार प्राप्त होता था। वे जीवनभर विवाह नहीं कर सकती थीं। कदाचित् किसीके गर्भ रह गया, बालक हो गया, तो फिर उन्हें उतने ही समय मनुष्य तथा सूर्यको बिना देखे तपस्या करनी पड़ती थी। ऐसी बहुत-सी जुम्माएँ बड़े लामाके अधीन रहती हैं। उनमेंसे तीन-तीन भिक्षुणियाँ नियत समयतक मुक्तिनाथजीके मन्दिरमें देख-रेख करती हैं। वे पूजा तो नहीं करतीं, किंतु भगवान्‌की मूर्तिको खूब छूती हैं; जो चढ़ावा आता है; उसे तुरंत उठा लेती हैं। बिना नहाये पहाड़ी जूता पहिने वे बहुत गंदे कपड़े पहिने मन्दिरमें रहती हैं। बागलुङका एक ब्राह्मण नाममात्रको पुजारी रहता है; किंतु उसे कोई अधिकार नहीं। वह वहाँ जंगलकी पहाड़ी धूपकी आरती करता है। तोला-दो-तोला चीनीका भोग लगा देता है। न कभी भगवान् स्नान करते हैं, न कभी उनके वस्त्र ही बदले जाते हैं। फटे-पुराने चिथड़े कपड़े भगवान् पहने रहते हैं। चीरोंका ही मुकुट भगवान्‌का है। न कोई आभूषण, न कोई सुन्दर वस्त्र। भगवान्‌के श्रीविग्रहपर मोटी तहका काला मैल जमा रहता है।

मन्दिरके पीछे कहींसे एक गुप्त जलका स्रोत आता है। उसी स्रोतमें गोमुख-व्याघ्रमुखके समान ताँबेकी टोंटियाँ लगी हैं, जिनमेंसे निरन्तर जल बहता रहता है। चौरासी धाराओंमें स्नान करनेसे चौरासी लाख योनियोंसे छुटकारा मिल जाता है। ये पूरी धाराएँ एक सौ आठ हैं। सभी यात्री इन धाराओंमें स्नान करते हैं। मन्दिरके आगे दो कुण्ड—ब्रह्मकुण्ड और रुद्रकुण्ड हैं। इन धाराओंका जल इन कुण्डोंमेंसे आता है। फिर यही जल सहस्रों धाराओंके रूपमें बहकर आगे गण्डकी नदीका रूप धारण करता है। इसी जलको नहरके रूपमें बाँधकर नीचेके गाँववाले ले जाते हैं। यही जल नीचे जाकर दामोदरकुण्डसे जो नारायणीगण्डकी आती हैं, उनमें मिलता है। गण्डकी और नारायणीका संगम काकवेनीमें होता है। यह सनकादि ऋषियोंका तपःस्थान है। यही पितृलोकस्थल, पितृपादस्थल तथा पितृमोक्षस्थल है। यहाँ श्राद्ध-पिण्डदानका बड़ा माहात्म्य बताया गया है; किंतु यहाँ न कोई ब्राह्मण है, न पंडा, न पुरोहित। कभी स्नान न करनेवाले मांसाहारी भोटिया-ही-भोटिया हैं।

हम समझते थे मुक्तिनाथ अष्ट भू-वैकुण्ठोंमेंसे एक है। यहाँ पञ्चरात्रके अनुसार सेवा-पूजाका प्रबन्ध होगा, भोग लगता होगा। हमलोग बद्रीनाथ, जगन्नाथजीकी भाँति प्रेमसे प्रसाद पायेंगे। जब इनका ही तपस्वीरूप देखा कि ये बिना भोगके ही दिन बिताते हैं, तो हमें दुःख हुआ। पुजारीके पिता-पितामह इसमें पूजा करते थे। पहले उन्हें कुछ वार्षिक मिलता था। तीन-चार वर्षसे वह भी बंद हो गया। भेंट-पूजा जो आती है, उस सबको लामाकी जुम्मा भिक्षुणियाँ उठा ले जाती हैं। लामा पूजा आदिका कुछ प्रबन्ध करता नहीं। भेंटको अपने काममें लेता है। यह ब्राह्मण इस आशासे पड़े हैं कि कभी-न-कभी तो हमारी सुनवायी होगी ही।

हमने पुजारीजीसे पूछा—'मुक्तिनारायण भगवान्‌को भोग क्या लगता है?' उन्होंने कहा—'भगवान्‌को खीर-

रोटीका ही भोग लगता है। पर खीर हम नित्य कहाँसे बनायें ? इसलिये हम भोग ही नहीं लगाते।' हमने कहा—'तुम अपने लिये भी तो बनाते होओगे, उसीका भोग लगा दिया करो।' उसने कहा—'हम भात बनाते हैं। भातका भोग लगता नहीं। गेहूँकी रोटी फलाहारी होती है और क्षीर अन्न। उसीका भोग लगता है।'

हमने कहा—'कल हम अपने हाथों भगवान्‌का अभिषेक करें, उन्हें भोग लगायें तो लगा सकते हैं ?'

पुजारीने तथा उन भिक्षुणियोंने इसकी हमें अनुमति दे दी। हमारे हर्षका ठिकाना नहीं रहा। रात्रिभर हम वहीं रहे।

श्रीमुक्तिनाथ

आषाढ़ कृष्ण ५ (१२ जून)

मुक्तिनाथमें हम मुक्तिनाथ-सेवासमितिकी धर्मशालामें ही ठहरे। स्त्रियोंके ठहरनेका एक अलग कमरा है, पुरुषोंके लिये अलग। दो छोटी-छोटी कोठरियाँ हैं, समितिके सभापति झारकोटके करमविष्टने अपने लड़केको भेजकर हमारा सब प्रबन्ध करा दिया था। सबको सोनेके लिये काठके तख्त दिये। बिछानेको गद्दे, ओढ़नेको फटे-पुराने कम्बल और भोजन बनानेको बर्तन। आसपासके गाँववालोंने जब सुना हम चालीस-पैंतालीस आदमी आये हैं तो वे अपनी-अपनी वस्तुएँ बेचने आ गये। लगभग एक मन दूध इकट्ठा हो गया। आटा, आलू, चीनी, घी—सभी वस्तुएँ मिल गयीं। मिलीं तो बहुत मँहगी; किंतु ऐसे स्थानपर इतना सामान मिल गया, यही बहुत है। बथुआका बहुत ही सुन्दर हरा-हरा साग भी मिल गया। खीर बनानेको बड़े बर्तन भी मिल गये। अब होने लगा मुक्तिनारायण-का भंडारा।

हमलोग अखण्ड कीर्तनके साथ भगवान्‌के मन्दिरमें पहुँचे। भगवान्‌के सभी वस्त्रोंको उतारा; उनमें कीड़े बैठे थे। दहीसे भगवान्‌के श्रीविग्रहके मैलको रगड़-रगड़कर छुड़ाया। पुरुषसूक्तसे स्वयं ही भगवान्‌की विधिपूर्वक पूजा की। उस समय कितना आनन्द आया; उसे वर्णन करनेकी इस लोहकी लेखनीमें शक्ति नहीं। भगवान्‌ने हमें इस योग्य समझा, हमारी सेवा स्वीकार की; हमें ऐसा सुयोग प्रदान किया—भगवान्‌की इस भक्तवत्सलताको देखकर हृदय गद्गद हो गया। हम प्रायः सभी धामोंमें सभी मुख्य-मुख्य तीर्थोंमें एक बार नहीं, अनेकों बार गये हैं। सभीमें भगवान्‌के दूर-दूरसे ही दर्शन होतेहैं। पंडे-पुजारी किसीको प्रतिमाके पासतक फटकने नहीं देते। एक पंढरपुरमें विट्ठलनाथ ही हमें ऐसे मिले थे, जिनका हमने हृदय-से-हृदय सटाकर बिना संकोचके गाढालिङ्गन किया था और मुक्तिनाथ भगवान्‌ने तो सबसे अधिक कृपा की। उन्होंने तो अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गकी सुखद सेवाका सुन्दर सुअवसर प्रदान किया। हम तो निहाल हो गये। कृतकृत्य हो गये, समस्त श्रम सार्थक हो गया। सभी मार्गके दुःख भूल गये। जीवनमें एक अभूतपूर्व सुख प्राप्त हुआ। पूजाके अनन्तर खीर-पराठोंका भोग लगा। चालीस-बयालीसतो हम ही लोग थे। आठ-नौ वहाँके आदमी थे—चार भिक्षुणियाँ, एक पुजारी, एक साधु और तीन निम्बार्क सम्प्रदायकी माताएँ। इतने लोग वहाँ रहते थे। सबने पेटभर प्रसाद पाया। फिर जो बचा, उसमेंसे वहाँके ग्रामवासी जितने नर-नारी एकत्रित थे, सबको थोड़ा-थोड़ा प्रसाद दिया गया।

प्रसाद पाकर हमने मुक्तिक्षेत्रकी यात्रा की। मुक्तिनाथमें एक अखण्ड ज्योति है, जैसे ज्वालामुखी पर्वतमें। मन्दिरसे थोड़ी ही दूरपर गुफाएँ हैं। एक गुफामें नीचे पानी बहता है और पानीमें एक ओरसे ज्वाला निकल रही है, एक पत्थरमेंसे ज्वाला निकलती है। ये चार ज्वालाएँ हैं। इनके नाम जल-ज्वाला, ज्योतिर्ज्वाला, स्वयंज्वाला और महाज्वाला हैं। यहाँ भी उन्हीं बौद्धलामाकी ओरसे एक-जुम्मा भिक्षुणी स्त्री रहती है। वही भेंट-पूजा लेती है। ज्वालाजीके दर्शन करके हम ऊपर चढ़े। आगे पर्वत, नीचे बड़े जोरका हर-हर शब्द होता है—मानो नीचे-ही-नीचे पानीकी धारा बह रही हो। प्रतीत होता है यही धारा आगे चलकर प्रकट होती है, जो एक सौ आठ धाराओं और सहस्र धाराओंके रूपमें होकर गण्डकीके रूपसे प्रवाहित होती है। यहीं एक पर्वत है, जहाँ सुनते हैं ऋषियोंने यज्ञ किया था। वहाँकी गीली मिट्टीको उठाकर खाओ तो उसमें दूधके साकल्यका-सा स्वाद आता है—ऐसा लोग कहते हैं। हमने तो चक्खा नहीं। उससे आगे बढ़नेपर नृसिंह-मन्दिर है। नृसिंह भगवान्‌की बड़ी भयंकर मूर्ति है और भी बहुत-सी पुरानी मूर्तियाँ हैं; वे सब बौद्धमूर्तियाँ प्रतीत होती हैं। नृसिंह-मन्दिरका दर्शन करके नीचे उतरकर हम मुक्तिनाथ-मन्दिरमें आ गये। मुक्तिनाथ मन्दिरके समीप ही काठकी बड़ी घिरनी लगी है, जिसमें लाखों मन्त्र लिखे हैं। जैसे पानीकी धारकी ठोकरसे पनचक्की चलती है, वैसे ही यह घिरनी चौबीसों घंटे अपने-आप घूमती रहती है। मानो यह घिरनी अखण्ड 'ओ मणिपद्मेहुं' इस बौद्धमन्त्रका जाप कर

रही हो। ब्रह्मकुण्ड-रुद्रकुण्डमें आचमन करके हम फिर अपनी धर्मशालामें आ गये, मानो मुक्तिनारायण-क्षेत्रकी हमने एक पूरी परिक्रमा दे ली।

यह दस योजन (४० कोस) का पूरा पहाड़ शालग्राम पर्वत है। इसके समस्त पाषाण शालग्राम हैं। यहाँ झारकोट-के पास एक पहाड़ है, उसमें शालग्राम मिलते हैं। हम सब शालग्राम लेने गये और बहुत-से छोटे-बड़े शालग्राम ढूँढ़ कर लाये।

शाश्वत आनन्द और वह कैसे उपलब्ध हो ?

(लेखक—श्रीराधेश्यामजी रस्तोगी)

यह साधारणतया समझा जाता है कि मानव-जीवनके अभ्युदयकी पराकाष्ठा अनन्त और नित्य, दुःखरहित सुखकी प्राप्तिमें निहित है। इसके लिये मानव विलास-सामग्री एवं सांसारिक सुखोंकी ओर अग्रसर होता है, जिसका परिणाम अन्ततोगत्वा केवल मानसिक विभ्रममें ही नहीं, अपितु त्रिताप—शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिकमें भी होता है। वह वास्तविक आनन्दकी प्रकृति एवं महत्त्वसे अपरिचित रहकर, अपना जीवन मृगतृष्णामें व्यतीत करता है। गीताके उपदेश एवं श्रीवल्लभाचार्यके लेख हमें वास्तविक आनन्दका ज्ञान करानेमें सहायता प्रदान करते हैं।

ईश्वर आनन्दका मुख्य स्रोत है। वह पूर्ण आनन्द है। जीव ब्रह्मका एक अभिन्न अङ्ग है, परंतु अनन्त काल हुए पूर्व-पार्थक्यके पश्चात् उसमें आनन्दकी मात्राका ह्रास हो गया। कुछ टीकाकारोंके अनुसार, जब आचार्य वल्लभ 'जीवः स्वभावतो दुष्टः'की घोषणा करते हैं, उनका 'दुष्ट' तत्त्वसे अभिप्राय पूर्ण आनन्दसे वियुक्ति और उससे उत्पन्न आनन्द-की कमीके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। आनन्दका जीव-से पूर्ण रूपेण लोप नहीं हुआ; वह राखसे लिप्त अंगारेके सदृश है। जिस प्रकार धौंकनीके प्रभावसे अंगारा प्रज्वलित हो उठता है, उसी प्रकार भक्तिमार्गके अनुगमन एवं 'श्रीकृष्णः शरणं मम'के अनवरत अवधारणसे आनन्दका पुनर्जागरण हो सकता है। संक्षेपमें, भक्तमें ईश्वरके प्रति पूर्ण, आवेशयुक्त, नित्य एवं स्थायी प्रेम और उसकी अनुकम्पा एवं सर्वज्ञतामें दृढ विश्वास होना चाहिये। उसे अपनेको उसकी इच्छापर पूर्णरूपसे समर्पित कर देना चाहिये। उसके नाम और गुणका निरन्तर स्मरण एवं संकीर्तन—उच्चारण ही उसका संरक्षण-मन्त्र होना चाहिये।

आनन्दकी प्राप्तिके योग्य होनेके पूर्व उसे कई स्थितियों-से होकर जाना पड़ता है। परंतु यह सदा ध्यानमें रहे कि मनुष्य ईश्वरकी कृपाके बिना केवल अपने साधनोंके बलपर आनन्दकी प्राप्ति नहीं कर सकता। स्वभावसे उत्पन्न मनुष्यों-की श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—

> त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
> सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥
> (गीता १७। २)

सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। श्रद्धा मनुष्यका स्वरूप है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है।' 'श्रद्धा मानव-जातिपर आत्मिक दबाव है, वह शक्ति है, जो उसे अच्छाईकी ओर ले जाती है—केवल ज्ञानके क्षेत्रमें ही नहीं, बल्कि आत्मिक जीवनके सम्पूर्ण क्रममें भी।' सात्त्विक पुरुष देवताओंको पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसों-को पूजते हैं तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणोंको पूजते हैं। सत्त्वगुणसे विवेक और ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुणसे कामना और आसक्ति तथा तमोगुणसे अज्ञान, प्रमाद और आलस्य उत्पन्न होते हैं। ये तीनों गुण एक मनुष्यमें भिन्न-भिन्न अनुपातमें पाये जाते हैं; परंतु जिस गुणसे वह अधिकतम प्रभावित होता है, उसीसे वह युक्त माना जाता है।

क्योंकि सत्त्वगुण तीनोंमें उत्तम है, इसलिये मनुष्यको राजसिक और तामसिक प्रवृत्तियोंका दमन करके, सात्त्विक प्रवृत्तियोंके विकास और पोषणकी ओर प्रयत्नशील होना चाहिये। आनन्द-प्राप्तिके चरम उद्देश्यका यह प्रथम सोपान है। आहारका नियमन एवं नियन्त्रण प्रारम्भिक स्थिति है। उसे आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले एवं रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहारका सेवन करना चाहिये।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥
(गीता १८ । ८)

उसे कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, अत्युष्ण, तीक्ष्ण, रूखे, दाहकारक, दुःख, चिन्ता और रोगोंको उत्पन्न करनेवाले एवं अधपके, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट एवं अपवित्र आहारका सेवन नहीं करना चाहिये।

सत्त्व पवित्र होनेके कारण ज्ञान उत्पन्न करता है। सात्त्विक पुरुष जानता है कि सांसारिक सुखमें लिप्त मनुष्यको आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता।

'विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः।'

सांसारिक सुखोंमें लिप्त व्यक्तिका हृदय भगवत्-प्रकाशसे आलोकित नहीं हो सकता। ये सुख क्षणिक और नाशवान् हैं। जो व्यक्ति विलासके उपकरणोंके एकत्रीकरण एवं उपभोगमें व्यस्त है, वह चिन्तासे त्रसित एवं पापकर्ममें प्रवृत्त रहता है। उसे विलासितासे अनासक्त होकर ब्रह्ममें स्थिर-प्रज्ञ होना चाहिये।

जो पुरुष सत्त्वगुणी हैं, वे शनैः-शनैः ऊर्ध्वगामी होते हैं—'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः'। सात्त्विक प्रवृत्ति दो मार्गोंका अनुगमन करती है—

(१) ज्ञानमार्ग, जो वेदोंके अध्ययन एवं आत्मचिन्तनका रूप लेता है

(२) भक्तिमार्ग।

ज्ञानमार्ग

ज्ञानका अर्थ विवेकसे है, परंतु विवेकका तात्पर्य पुस्तकीय ज्ञान अथवा प्रामाणिक आस्थाओंसे नहीं लेना चाहिये; क्योंकि अनभिज्ञता बौद्धिक त्रुटि नहीं है। वह आत्मिक अज्ञान है। इसको दूर करनेके लिये ज्ञानीको चाहिये कि वह आत्माकी शुद्धि करे और आत्मिक ज्योतिको प्रज्वलित करे। ज्ञानीको विषयकी अग्नि एवं वासनाओंके उद्रेकका दमन करना चाहिये। प्राणायाम एवं चिन्तनके माध्यमसे उसे चञ्चल मन एवं अस्थिर चित्तको वशीभूत करना चाहिये। उसे इन्द्रियोंका नियन्त्रण एवं बुद्धिका नियमन करना चाहिये। अविद्याकी तमोमयी प्रवृत्तियोंको दूर करनेमें ही उसे अपनी शक्ति और बलका विनियोग करना चाहिये। वासनाका मुख्य कारण वस्तुओंकी यथार्थतासे अनभिज्ञता है। यह वासना व्यक्तिगत पूर्णताके अविद्यामूलक विश्वास एवं वस्तुओंमें यथार्थता और स्थायित्वके आक्षेपनमें निहित है। अविद्यासे मुक्ति प्राप्त करनेका साधन विवेक है।

ज्ञानी अक्षर ब्रह्मका, जो अकथनीय, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ और अचल है, चिन्तन करता है; परंतु निराकार परब्रह्मकी खोज सगुण परमेश्वरकी उपासनासे कठिन है। शरीरधारियोंसे अव्यक्तविषयक गति कठिनतासे ही प्राप्त होती है। निराकार ब्रह्मको मस्तिष्क कठिनतासे ग्रहण कर पाता है। अतः यह मार्ग बड़ा कठिन और श्रमपूर्ण है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥
(गीता १२ । ५)

इसके अतिरिक्त ज्ञानमार्गकी अपनी निजी सीमाएँ हैं। यह अहंभावका सर्वनाश नहीं करता। यह आसक्तिको जन्म देता है, यद्यपि वह सात्त्विक उद्देश्योंके प्रति होती है। अहं जो अन्य सब बन्धनोंसे मुक्त है, वह यहाँपर ज्ञानपाशमें बँध जाता है। अहंकी भावनाके सर्वथा परित्यागके बिना मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। ज्ञानका सम्बन्ध बुद्धिसे है, जो प्रकृतिकी देन है और इसकी भिन्नता जीवकी चेतनशक्तिसे स्पष्ट होनी चाहिये।

तीनों वेदोंके ज्ञाता देवताओंको यज्ञोंके द्वारा पूजते हैं, स्वर्ग-प्राप्तिके लिये प्रार्थना करते हैं और स्वर्गलोकमें देवताओंके भोगोंको भोगते हैं। वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥
(गीता ९ । २०-२१)

स्वर्गीय सुख परम उद्देश्य नहीं माना जा सकता। ऐसे व्यक्ति कर्मके सिद्धान्तसे आबद्ध हैं; क्योंकि वे वासनासे

पराभूत हैं। वे ब्रह्माण्डके चक्रसे मुक्त नहीं होते; क्योंकि उनके कर्म 'अहंभाव'से प्रेरित होते हैं और उनका अज्ञान पूर्णतया विनष्ट नहीं होता। चाहे वे सत्कामनाओंसे आबद्ध हों अथवा दुष्कामनाओंसे, वे बन्धनसे मुक्त नहीं हैं। इसका उल्लेख डा० राधाकृष्णन्ने बड़ी कुशलतापूर्वक किया है, 'हमें आबद्ध करनेवाली शृङ्खला चाहे सोनेकी हो अथवा लोहेकी, बन्धनमें कोई विशेष अन्तर नहीं करती।' मानव-जीवन शरीरमें निवास करनेवाले जीवको मुक्त करनेका सुनहरा अवसर है। हम अहंभावसे प्रेरित होकर कार्य करते हैं, चाहे इस संसारके सुखकी प्राप्तिके लिये करें और चाहे भावी स्वर्गकी।

ज्ञानीको पहले केवल परोक्ष ज्ञान होता है। तत्त्वज्ञानका प्राप्त होना तो बड़ी लंबी साधनाका फल है। कोई भी व्यक्ति इस परिस्थितिको तबतक नहीं प्राप्त हो सकता, जबतक उसने विभिन्न जटिलताओंकी पृष्ठभूमिमें गहन अनुभूतियोंको भलीभाँति न समझा हो। यह पर्याप्त समय लेता है। मानव-प्रकृतिका पूर्णरूपेण परिवर्तन एक दीर्घकालीन क्रिया है। अनेक जन्मोंके पश्चात् ही ज्ञानी यह अनुभव कर पाता है कि सब कुछ वासुदेव ही है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

ज्ञानी अक्षर ब्रह्मको प्राप्त हो सकता है, परंतु वह इससे भी अधिक आनन्ददायक भगवान्के चतुर्भुजी स्वरूपका दर्शन नहीं कर सकता; क्योंकि यह न वेदोंके अध्ययनसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे देखा जाना सम्भव है।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५३-५४)

भक्तिमार्ग

दूसरी ओर भक्तिमार्ग एक मनुष्यकी शक्ति, ज्ञान, इच्छा एवं भावनाको, निजी ठाकुरजीके स्वरूपकी उपासनाके माध्यमसे ईश्वरकी ओर केन्द्रीभूत करके, उसे वाञ्छित लक्ष्यकी ओर सरलता और स्वाभाविकताके साथ ले जाता है। जिसकी प्रकृति वैराग्यमें केन्द्रित नहीं है, उसके लिये भक्तिमार्ग अधिक उपयुक्त है। भागवतके अनुसार 'भक्तिमार्ग' उसके लिये अधिक उपयुक्त है, जो न तो संसारसे अधिक विरक्त है और न उसमें अधिक आसक्त है। अव्यक्तकी आराधना साधारण मनुष्योंके लिये कठिन है। निजी ठाकुरजीके स्वरूपकी उपासनाका मार्ग निर्बल एवं पतित, अशिक्षित एवं अनभिज्ञ—सबके लिये अधिक सुगम है। कठोर नियन्त्रण अथवा चिन्तनका दुस्साध्य प्रयास प्रेममें निहित बलिदानसे अधिक कठिन है। भक्तोंका भगवान् शून्यके एकान्तमें शयन नहीं करता, जब कि दुःख-प्लावित हृदय सहायताके लिये पुकार रहे हों। वह तो भक्ति-अधीनस्थ, संरक्षण करनेवाला परमेश्वर है। कम-से-कम भक्तोंका अनुभव और विश्वास उन्हें ऐसा ही बतलाता है।

भक्ति 'भज' धातुसे निकलता है, जिसका अर्थ इष्टकी सेवा है। भक्तिके सम्बन्धमें लिखते हुए डा० राधाकृष्णन् कहते हैं—

'वह भगवान्के प्रति प्रेममयी आसक्ति है। नारदके अनुसार वह ईश्वरके प्रति अनन्य प्रेम है। शाण्डिल्यने इसे सर्वोच्च तृष्णाकी संज्ञा दी, जिसका आनन्द उसीमें निहित है। वह ईश्वरके अनुग्रहके प्रति विश्वासमूलक आत्मसमर्पण है। योगसूत्रके अनुसार यह वह प्रेम है, जिसमें हम फलकी कामना न करके, समस्त कर्म उस गुरुके भी गुरुके प्रति समर्पित कर देते हैं। यह एक गहन अनुभूति है, जो समस्त कामनाओंका निषेध करके, हृदयको ईश्वरीय प्रेमसे प्लावित कर देती है। भक्तिमार्गके समर्थक, मुक्तिकी इतनी वाञ्छा नहीं रखते जितनी कि अपनेको ईश्वरेच्छाके अधीनस्थ करनेमें। ईश्वरकी शक्ति एवं सर्वज्ञताका चिन्तन करनेसे, भक्ति—ओतप्रोत हृदयसे उसका निरन्तर स्मरण करनेसे एवं उसका स्तुतिगान करनेसे एवं समस्त कर्म उसीके निमित्त करनेसे मनुष्यात्मा ईश्वरके संनिकट पहुँचती है। भक्त अपने समस्त अस्तित्वका विनियोग इष्टमें करता है। भक्ति ही धर्मका सार है। श्रीभगवद्गीताके भगवान् दार्शनिक विचारणाके विषय नहीं हैं। वे तो करुणाके सागर हैं, जिसे हृदय और आत्माकी आवश्यकता है, जिसे वह खोजती है। वे विश्वास, प्रेम, श्रद्धा एवं आत्मसमर्पणको प्रेरित करते हैं। भक्ति बौद्धिक प्रेम नहीं है, जिसका सम्बन्ध केवल विचार और चिन्तनसे है। ज्ञान भक्तिका पोषक है, पर ज्ञान भक्तिका पर्यायवाची

नहीं है। इसका सम्बन्ध न तो यौगिक आसनोंसे है और न संदेहविद्ध ब्रह्मज्ञानकी तृष्णासे ही। यह हमें बिना ज्ञानके आत्मिक शान्ति प्रदान करती है; जैसा कि गोपियोंके साथ हुआ। भक्त अत्यन्त दीन होता है। भगवान्‌को यह दीनता प्रिय है। वह पूर्ण आत्मसमर्पण देखना चाहता है।'

भक्ति विवेकको जन्म देती है। प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंके हृदयमें ईश्वर स्वयं ही स्थित होकर उन्हें बुद्धियोग प्रदान करता है और ज्ञानरूपी दीपकके प्रकाशसे उनके अज्ञानान्धकारको नष्ट करता है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता ९। १०-११)

बुद्धियोगसे ब्रह्मभाव उत्पन्न होता है। गीताके अन्तिम अध्यायमें यह कहा गया है कि ब्रह्मभाव भक्तको शान्त अन्तःकरणवाला बनाता है। वह न तो किसी वस्तुके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। सब भूतोंमें समभाव हुआ वह पराभक्तिको प्राप्त होता है। पराभक्तिके द्वारा वह ईश्वरको तत्त्वसे भली प्रकार जान लेता है कि वह कौन है और किस प्रभाववाला है। इस प्रकार ईश्वरको तत्त्वसे जानकर वह उसमें प्रविष्ट हो जाता है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८। ५५)

भक्तिकी निम्नलिखित मुख्य विशेषताएँ हैं—

१–पूर्णरूपेण शरणागति–ईश्वरकी शरणागतिमें मनुष्य तब आता है, जब जीवनकी चिन्ताएँ उसे अत्यन्त दुःखित कर देती हैं, उसके समस्त प्रयास असफल हो जाते हैं और वह अन्धकारमय गड्ढेमें गिरने लगता है। जब वह संदेह, आत्मग्लानि एवं घोर निराशाके सामूहिक आक्रमणसे घिर जाता है, तब ईश्वरका वरद हस्त ही उसकी मुक्तिमें सहायक होता है। भक्तको अपना समर्पण ईश्वरके प्रति निष्कपटतापूर्वक कर देना चाहिये। विचार-शक्ति, सेवा-कार्य, त्याग-भावना एवं श्रद्धा—सबका विनियोग ईश्वरमें ही होना चाहिये। ईश्वर अपनी उदारता एवं प्रेमका परिचय हमें अपने पास बुलानेकी उत्सुकताका समय-समयपर प्रदर्शन करके देता ही रहता है। हम अपनेको ईश्वरकी ओर ले जायँ और ईश्वर हमें अपनी ओर खींचे—इन दोनों ही बातोंपर हमारी आत्मिक उन्नति समानरूपसे निर्भर है। हमारी आत्मा ईश्वरीय प्रेमके भारसे दबी है और यदि हम अपनेको उसके प्रति समर्पित कर दें, तो वह हमारे अन्तःकरणमें स्थित होकर हमारी प्रकृतिका सुधार करके हमें प्रकाश-पुञ्जके सदृश ज्योतिर्मय कर देगा। ईश्वर सदा ही हमारी सहायताके लिये तत्पर है, वह केवल हमारी विश्वासभरी पुकारकी प्रतीक्षा करता है। गीताके अन्तिम और चरम श्लोक इसका समर्थन करते हैं।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६५-६६)

'अपना चित्त मुझमें स्थित कर, निरन्तर मेरा भजनेवाला हो, मेरी ही पूजा कर और मुझको ही भक्तिसहित साष्टाङ्ग दण्डवत् कर। ऐसा करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा—यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है। सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर मेरी अनन्य शरणको प्राप्त हो। मैं तुझको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

२–आत्मसमर्पण–पूर्णरूपेण आत्मसमर्पणके साथ ही प्रत्येक वस्तु ईश्वरको समर्पित कर देनी चाहिये। श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार—

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तं समर्पणम्॥

(सिद्धान्तरहस्य—वल्लभाचार्य)

अर्थात् ब्रह्म-सम्बन्धके पश्चात्, प्रत्येक कर्म ईश्वरको समर्पित करनेके उपरान्त ही करना चाहिये। भक्तको, केवल अपनेको, अपना शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि-प्राण ही नहीं, बल्कि समस्त वस्तुएँ समर्पित कर देनी चाहिये। उसे चाहिये कि वह कोई भी असमर्पित वस्तु प्रयुक्त न करे। जिस वस्तुका भी वह प्रयोग करे, उसे चाहिये कि वह उसे भगवत्-सम्पत्तिकी दृष्टिसे देखे। अतः उसका उपयोग ऐसे होना चाहिये, जैसे वह भगवत्-अनुमतिके पश्चात् ही हो रहा है।

३-अनन्याश्रय-गीताके चौदहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकके अनुसार—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

'अव्यभिचारेण' विशेषणसे अभिप्राय एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके प्रति अनन्य प्रेमसे है। इस प्रेममें स्वार्थ-भावनाका पूर्णरूपेण निषेध एवं श्रद्धाका अतिरेक अन्तर्निहित है। ईश्वर ही उपासनाका चरम लक्ष्य है। वही अन्तिम गन्तव्य एवं एकमात्र आश्रय है। वही हमारा स्वामी, पिता, माता, बन्धु और सखा है और उसके अतिरिक्त हम किसीको भी अपना नहीं कह सकते—यह दृढ़ विश्वास ही इसकी आधार-शिला है। किसी भी प्रकारके स्वार्थ, अहंभावना एवं विश्वासघातसे यह अनन्य प्रेम अकलुषित रहता है। यह सब प्रकारसे पूर्ण, दृढ़ और अविभाज्य है और परिणामस्वरूप ईश्वरका क्षण-मात्र विस्मरण भी हमारे लिये असह्य हो जाता है।

४-चिन्तासे मुक्ति-यदि कोई व्यक्ति विपत्तिग्रस्त है, तो उसे अपनेको ईश्वरके संरक्षणमें छोड़ देना चाहिये। तत्पश्चात् उसे किंचिन्मात्र भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि करुणानिधान परमेश्वर कभी भी अपने भक्तको निराश नहीं करता।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति।
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्॥

गीताके नवें अध्यायमें भगवान् कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

यदि हम अपनेको ईश्वरके अनुग्रहके अधीनस्थ कर दें, तो वह स्वयं ही हमारे योगक्षेमका उत्तरदायित्व ले लेगा। हम उसकी संरक्षण-शक्ति एवं उसकी बलदायिनी कृपापर पूर्णतया आश्रित रह सकते हैं।

५-समुचित संतुलन एवं आन्तरिक शान्ति-संतुलनका अभिप्राय क्रोध, संवेदनशीलता, अहंकार एवं कामनाओंपर विजयसे है। फलकी कामनाका परित्याग करके उसे प्रत्येक कार्य पूर्ण शान्तिके साथ करना चाहिये। वह किसीसे घृणा नहीं करता, न किसी वस्तुकी कामना करता है; किसी भी घटनासे न वह आनन्दित होता है, न दुखी। शत्रु और मित्रसे समान व्यवहार रखता है, सर्दी-गर्मीमें समान रहता है, सुख और दुःखमें समभाव रखता है और सब बन्धनोंसे मुक्त रहता है। वह पूर्ण नियन्त्रित एवं सदा संतुष्ट रहता है।

६-श्रवण एवं कीर्तन-अन्तःकरणकी शुद्धता प्राप्त करनेके लिये भगवत्-लीलाका श्रवण एवं कीर्तन सर्वोत्तम उपाय है। परंतु कीर्तन उत्कृष्ट व्यक्तियोंके मध्यमें ही करना चाहिये।

महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत्॥
गुणगाने सुखावाप्तिं गोविन्दस्य प्रजायते।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः॥

(निरोधलक्षण—वल्लभाचार्य)

यह कीर्तन केवल प्रेरणाका ही नहीं, बल्कि आत्मिक आनन्दका भी स्रोत है। इस समुदायमें जब भक्त ईश्वरकी स्तुतिका गान करता है, तब वह प्रसन्न होकर उसे पूर्णानन्द प्रदान करता है।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः।
हृद्‌गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान्॥

(निरोधलक्षण—वल्लभाचार्य)

श्रीवल्लभाचार्यने यह भी कहा है कि भक्तको भगवन्नामका निरन्तर उच्चारण करना चाहिये।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम।
वदद्भिरेव सततं स्थेयं नित्यैव मे मतिः॥

(नवरत्न—वल्लभाचार्य)

उपसंहारमें हम यह कह सकते हैं कि जीवनका उद्देश्य भगवत्-प्राप्ति है, न कि सांसारिक सुख। और हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपना सम्पूर्ण शरीर, मन एवं धन निःस्वार्थ भावसे ईश्वरकी सेवामें लगा दें। शाश्वत आनन्दकी प्राप्तिके लिये यही एक संजीवनी है।

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः॥
नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्॥

(निरोधलक्षण—वल्लभाचार्य)

श्रीशंकराचार्यका आचार-सिद्धान्त

(लेखक—डा० श्रीराममूर्तिजी शर्मा, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, शास्त्री, साहित्यरत्न)

आचार्य श्रीशंकरका वेदान्तिक आचार-सिद्धान्त ज्ञान और कर्मका एवं व्यवहार तथा परमार्थका समन्वय है। वह न तो स्पेन्सरके 'न्यू जेरुसलम' New Jerusalem) की तरह काल्पनिक है और न कांटके 'आदर्श लोक' (Kingdom of Ends) की तरह अप्राप्य है। श्रीशंकराचार्यने किसी काल्पनिक समाजकी व्यवस्था न करके एक ऐसी आध्यात्मिक सत्ताके रूपमें साध्यकी व्यञ्जना की है, जिसमें मनुष्य अपनी चरम पूर्णता प्राप्त कर लेता है। आचार्यने जिस कर्म-सिद्धान्तको महत्त्व दिया है, वह व्यवहार और परमार्थ—दोनोंका साधक है। उन्होंने राग-द्वेषरहित निष्काम कर्मका संदेश मानव-समाजके श्रेयके लिये प्रस्तुत किया है। साधारणतया मलिन चित्त आत्मतत्त्वका बोध करनेमें असमर्थ होता है। परंतु कामनारहित नित्य-कर्मके अनुष्ठानसे चित्त-शुद्धि होती है, जिससे विना किसी बाधाके जीव आत्मस्वरूपका बोध करता है[1]। इस प्रकार आत्मज्ञानकी उत्पत्तिमें सहायक होनेके कारण नित्य-कर्म मोक्षके साधक हैं। श्रीशंकराचार्यने अपने भाष्यमें स्पष्ट कहा है कि कर्मके द्वारा संस्कृत होनेपर ही विशुद्धात्मा आत्म-बोध करनेमें समर्थ होता है[2]।

श्रीशंकराचार्यने राग-द्वेषयुक्त सकामकर्मका खण्डन करके निष्काम कर्मको महत्त्व दिया है। निष्काम कर्म चित्त-शुद्धिके द्वारा जीवको मोक्षकी ओर अग्रसर करता है। गीतामें आसुरी एवं दैवी कर्मोंकी चर्चा की गयी है। स्वाभाविक राग-द्वेषका त्याग करके शुभ भावनासे

१—गीता शा० भा० १८।१० संदर्भ।

२—कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मानः शक्नुवन्त्यात्मानमुपनिषत्प्रकाशितमप्रतिबन्धेन वेदितुम्'''''एवं काम्यवर्जितं नित्यं कर्मजातं सर्वमात्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधनत्वं प्रतिपद्यते। (बृह० उ० भा० ४।४।२२)

धर्माचरण करनेवाला व्यक्ति देव कहलाता है। इसके विपरीत स्वभावसिद्ध राग-द्वेषसे अधर्माचरण करनेवाला व्यक्ति असुर कहलाता है। यह देवकर्म जहाँ एक ओर आध्यात्मिक उपलब्धिका साधन है, वहाँ दूसरी ओर सुखी आदर्शसमाजका प्रस्थापक। जहाँ सकाम कर्मका अनुष्ठान तथा अभ्यास मनुष्यको पशुत्वकी ओर ले जाता है, वहाँ निष्काम कर्म मानवको अलौकिक सुख प्रदान करता है। इस प्रकार आचार्य शंकरका निष्काम कर्म ऐहिक और पारमार्थिक दोनों प्रकारका संतोष प्रदान करता है।

शांकर-दर्शनके सम्बन्धमें यह आक्षेप नितान्त अयुक्त है कि शांकर-दर्शनमें कर्मकी निरर्थकता सिद्ध की गयी है। यह कथन अवश्य ही सत्य है कि शंकराचार्य कर्मको मुक्तिमें बाधक मानते हैं। अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य[1] एवं बृहदारण्यकके भाष्यमें[2] उन्होंने कर्मको मुक्तिका साधन नहीं स्वीकार किया है। परंतु इससे आचार्यका तात्पर्य कर्मकी निरर्थकतासे कदापि नहीं है।

गीताभाष्यमें आचार्यने स्पष्ट कहा है कि मनुष्यका कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता। जो जिस भावनासे कर्म करता है, उसको भगवान् वैसा ही फल देते हैं[3]। शंकराचार्यको मीमांसकोंकी भाँति सीधे कर्मसे अथवा ज्ञान-कर्म-समुच्चयसे मुक्तिलाभ स्वीकार करनेमें आपत्ति है।[4] परंतु परम्परया शंकराचार्य कर्मको भी मुक्तिका साधन मानते हैं। मुमुक्षुके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म व्यर्थ नहीं है। आत्मबोधके लिये चित्तशुद्धि

१—ब्र० सू० शा० भा० १।१।४

२—बृ० उ० भा० ३।३।१

३—गीता शा० भा० ४।११

४—ऐतरेयोपनिषद्-भाष्यका उपोद्घात।

परमावश्यक है । सर्वत्र विद्यमान होनेपर भी आत्मा सर्वत्र अवभासित नहीं होता । सभीमें आत्मा है, परंतु सभीको आत्मसाक्षात्कार नहीं होता । आत्मसाक्षात्कारके लिये उसी प्रकार निर्मल चित्तकी आवश्यकता है, जिस प्रकार किसी भी वस्तुके प्रतिबिम्बके लिये स्वच्छ दर्पणकी ।[1] यद्यपि मोक्षका मुख्य हेतु ज्ञान ही है, तथापि परम्परया कर्म आदि भी मोक्षप्राप्तिमें सहायक हैं ।

कर्मका त्रिविध स्वरूप

कर्मके तीन रूप हैं—(१) संचित (पूर्वकालके जो कर्म जमा हैं), (२) क्रियमाण या संचीयमान (वे नये कर्म जो इस जीवनमें जमा हो रहे हैं), (३) प्रारब्ध (पूर्वकालके वे कर्म जिनका फल जीव भोग रहा है) ।

संचित कर्म पूर्वकृत कर्म हैं और संचीयमान भविष्यमें फल उत्पन्न करनेवाले कर्म । तीसरे कर्म—प्रारब्ध कर्मका भोग अनिवार्य है । संचित एवं संचीयमान कर्मोंका विनाश कर्मयोग, ध्यान, सत्सङ्ग, जप, अर्थकी भावना और परिपाकके अवलोकनसे हो जाता है ।[2] निष्काम कर्मका अनुष्ठान पुण्य-पाप आदिके नाशका हेतु है । यही पुण्य-पाप आदिके कारणभूत स्थूल और सूक्ष्मके विलयका हेतु भी है ।[3] उपर्युक्त कर्म-निर्हार मुमुक्षुके लिये अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि कर्मवासना और भोगवासना जीवबन्धनका कारण है । अतः मोक्षलाभके लिये कर्म-निर्हरण अत्यन्त आवश्यक है ।

इस विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि शंकराचार्यका आचारसम्बन्धी सिद्धान्त व्यवहार और परमार्थ दोनों दशाओंमें उपयोगी सिद्ध हुआ है । उसमें दार्शनिक प्लेटोकी शुभकामना और अरस्तूके 'नैतिक गुण' के सिद्धान्त भी निहित हैं ।[4] श्रीशंकराचार्यका आचार-सम्बन्धी सिद्धान्त भारतीय दर्शनकी अद्वितीय विशेषता है ।

पञ्चतत्त्व

(रचयिता—विद्यालंकार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न)

सत्व-भूत है पवन-तत्व,
प्रति प्राण-प्राणमें व्याप्त ।
गगन-तत्वसे जग आच्छादित,
प्रकृति-समन्वित आप्त ॥

धरा-गर्भ-निःसृत पावन जल,
तरल तत्व सिञ्चित जिससे भव ।
तनमें उष्णरूप बन बैठा
वह्नि-तत्व यह जीवनका लव ॥

धरा वहन करती तत्वोंको
स्वयं तत्व बन एक ।
कर्ता क्रियाहीन कहलाता
तत्वोंका होता व्यतिरेक ॥

प्रकृति खेलती इन तत्वोंसे,
इनसे होता है निर्माण ।
तत्व तत्वसे मिल जाते हैं,
तत्वहीन जब होते प्राण ॥

१—सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते । बुद्धावेवावभासेत स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत् ॥ (आत्मबोध १७)

२—कर्मतो योगतो ध्यानात् सत्सङ्गाज्जपतोऽर्थतः । परिपाकावलोकाच्च कर्मनिर्हरणं जगुः ॥ (विज्ञानदीपिका २२)

३—(विज्ञानदीपिका ३०)

4. Plato recommends for philosophers the pursuit of wisdom, which has for its final fruit the vision of the idea of the good, and for others true opinion, which is limited to one's station and its duties.

Similarly, Aristotle recommends for the ordinary man "Moral virtues" which are emphatically "human affairs" and for those who aim at immortality the exercise of reason which apprehends things noble and divine (Radha Krishnan, Indian Phil., Vol. II., p. 615.)

चिन्तन

(लेखक—आचार्य सर्वे)

भगवान्का कार्य

हममेंसे प्रत्येक भगवान्का एक विशिष्ट कार्य करनेको इस धरतीपर उतरा है। प्रत्येक व्यक्तिकी अपनी एक विशेष क्षमता है, जो दूसरेमें नहीं। अतएव प्रत्येकका अपना एक विशिष्ट महत्त्व भागवत-संकल्पकी पूर्ति हेतु है। इसीसे विकास-स्तरकी दृष्टिसे भिन्न होते हुए भी संसारके सभी जड एवं चेतन व्यक्तित्व समान हैं। उनमेंसे प्रत्येकको भगवान्के संकल्पके अनुसार विकसित एवं सुरक्षित होनेका अधिकार है; क्योंकि ऐसा होनेपर ही हममेंसे प्रत्येक सही तौरपर विकसित हो पायेगा।

भगवान् सर्वत्र हैं

सर्वत्र भगवान् हैं। उन्हींका संकल्प विभिन्न कर्मोंके रूपमें चरितार्थ हो रहा है। जिस प्राणीमें उक्त निष्ठा विकसित रूपमें है अथवा जिसका सम्बन्ध भागवत-चेतनासे है, दूसरे शब्दोंमें जिसका चैत्यकेन्द्र सक्रिय है अथवा यों कहिये कि जिसने अभीप्सापूर्वक भगवान्को सर्वसमर्पण कर दिया है अथवा जिसका 'मैं' वैश्व 'मैं'से एकाकार हो चुका है और इस प्रकार जिसका मन-प्राण-प्रकृतिरूपी आधार रूपान्तरित अथवा भागवत-चेतना-युक्त हो चुका है वह सर्वयोगात्मा इस विश्व एवं इससे पारकी भी 'सद्वस्तु' का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी है। उसके प्रत्येक कर्म—वचन, लेखन, ताड़न, रक्षण, शिक्षण, उद्योग, युद्ध, समर्पण, गमन, चिन्तनादिमें भगवान् ही प्रकाशित होते हैं। वह सत्यवान् होता है, उसके लिये सर्वत्र भगवान् ही होते हैं और इसलिये उसके द्वारा एवं उसके प्रति भी सदैव शुभ ही होता है।

कर्मकी स्वतन्त्रता

प्राणी अपने लिये 'भगवान् अथवा शैतान'—दोमेंसे कोई भी मार्ग एवं कार्य आदि चुननेमें स्वतन्त्र है। इसी कारण उसका विकास भी किसी भागवत दबावके अनुसार न होकर स्वतन्त्रतापूर्वक होता है। यही कारण है कि जबतक व्यक्ति पूर्णतया अपनेको भगवान्के समर्पित नहीं कर देता अर्थात् उसका यन्त्र नहीं बन जाता अथवा उसमें भागवत चेतनाके लिये पूरी तौरसे स्वीकृति या छूट नहीं होती, दूसरे शब्दोंमें जबतक उसका 'चैत्य' प्रबुद्ध नहीं हो जाता अथवा यों कहिये कि जबतक उसका प्रत्येक कार्य भगवान्के लिये ही होने नहीं लगता, तबतक यह आवश्यक नहीं है कि उसके लिये अथवा उसके द्वारा कोई अशुभ न हो। तबतक वह प्रायः विजातीय तत्त्व—भूत-प्रेत, प्राणसत्ताएँ, चिन्मात्रादिहीकी पकड़में रहता है। अर्थात् भगवान्के शुभ (सदैव) कर्मकी भी उक्त विजातीय तत्त्वके कारण उसके मन, प्राण वा शरीर (प्रकृति) में कोई अशुभ प्रतिक्रिया—दुर्घटना, रोग, पतन, बन्धन, आत्महत्या आदि—होनी असम्भव नहीं। उस स्थितिमें भले ही वह अथवा घटनाओंको भौतिक परिवेशोंमें देखनेके आदी उसके प्रियजन भगवान्को दोष दें अथवा भगवान्की शुभकारिताके प्रति अविश्वस्त बनें; फिर भी मुझे पूरे विश्वासके साथ यह कहनेकी अनुमति आप दें कि उक्त भौतिक दृष्टिसे शोचनीय अवस्था (जो कि दुष्टस्वभावकी सत्ताओंद्वारा घटित हुई है) का परिणाम अहितकारी नहीं होगा। उससे भी व्यक्तिका अनुभूतियोंके क्षेत्रमें हित ही होगा। भागवत-संकल्पकी ऐसी ही कृपापूर्ण उत्तम आयोजना है। कर्मकी स्वतन्त्रता प्रदान कर भगवान्ने व्यक्तित्वके सुविकासकी ऐसी ही स्वावलम्बन, आत्म-विश्वास, आत्मनिर्णयाधिकार आदिसे युक्त उत्तम व्यवस्था

अनादिकालसे कर रखी है। इससे भगवान् (के संकल्प) की सर्वज्ञतापर प्रकाश पड़ता है।

कर्मका आधार

चैत्य (जीवात्मा अथवा अन्तरात्मा) को यदि भगवान्‌रूपी शक्ति-गृहसे व्यक्तिरूपी लैम्पमें बिजली लानेवाला तार माना जाय तो मन, प्राण एवं प्रकृतिके तीन रेशमी आवेष्टनोंकी कल्पना की जा सकेगी, जो चैत्यरूपी तारके भीतर प्रवहणशील शक्तिकी दूसरोंसे एवं दूसरोंकी उससे रक्षा हेतु मँढ़े गये हों। इन तीनों स्तरोंमेंसे 'मन' तार अथवा चैत्यके सर्वाधिक निकट, प्राण दूसरे स्थानपर तथा प्रकृतिका अन्नमय देह सबसे अधिक परे तीसरे स्थानवाला परिवेष्टन अथवा आवरण है। इन तीनोंमें ही मूल-चेतना (जो चैत्यकेन्द्ररूपी माध्यमसे होकर आती है) का जीवन है। चैत्यके जागनेपर उक्त त्रि-आवरण (माया) रूपी कर्माधार रूपान्तरित या सबल होता है। उससे पूर्वकी निर्बल स्थितिमें प्रायः वह कर्म करनेमें ईश्वरीय व्यवस्थाके अनुसार स्वाधीन न होकर दुष्ट वा अदुष्ट प्राण-सत्ताओंके अधीन रहते हुए प्रतिक्रियामात्र देता है, जिसे स्वाधिकारयुक्त कर्मकी संज्ञा न दी जा सकनेके कारण व्यक्ति पराधीनता, दीनता और अकर्मण्यतावश क्रोधके बजाय करुणाका पात्र ही अधिक माना जाना चाहिये। प्रायः महान् आत्माओंका अवतरण (ऐसे ही पराधीन सत्तावाले व्यक्तियोंद्वारा अनजाने ही हुई) धर्मकी ग्लानि अथवा हानिके निवारण-हेतु (अपने हृदयमें प्राणिमात्रके लिये अजस्र करुणाका स्रोत सँभाले) सर्वत्र ज्ञानयुक्त प्रकाश और शान्तिमय धर्मकी स्थापनाके निमित्त (अधिमानस-क्षेत्रसे) हुआ करता है।

अहंतत्त्वकी प्रमुखता

मन, प्राण एवं प्रकृतिके परिवेश प्रकटरूपसे पृथक्-पृथक् प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः एक ही अहंतत्त्वकी अभिव्यक्तियाँ हैं। इसे यों भी कहा जा सकेगा कि 'विशुद्ध अहं' के संयोजक चैत्य पुरुषके विकसित होनेपर कर्मका उक्त आधार भागवत चेतनाकी उन्मुक्त सक्रियताके अनुकूल सुसंगत तथा सुनियोजित सत्तामें परिणत हो जाता है। आधारकी वही स्थिति भगवान्‌का कार्य करने हेतु श्रेष्ठ कही जा सकती है। बलात् त्याग आदिके द्वारा चरितार्थ कर्मको भागवत नहीं कहा जायगा।

अमूल्य मानव-शरीर क्यों खोता है ?

अरे, तू क्यों अमूल्य तन खोवै ?
क्यों अनित्य सुखरहित जगत्‌की ममता-निशिमें सोवै ?
क्यों अघमूल भोग-सुख-कारण मानव-जन्म विगोवै ?
शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श हित क्यों अतृप्त हो रोवै ?
श्रीहरिका अति सरस भजन कर क्यों न पाप-मल धोवै ?
हरिपद-पंकजका मधुकर बन क्यों न धन्य तू होवै ?

मैं श्राद्ध करूँगा

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'पिताजी, आज बहुत प्रसन्न दीखते हैं आप !'

'मेरा पौत्र आज मुझे उपहार देनेमें जुटा है ।'

'अच्छा, तो धूलिकी मुट्ठी तू पिताजीको दे रहा है !' नन्हे बच्चेकी ओर प्रसन्न भावसे उसके युवा पिताने देखा। 'तुझे देनेके लिये और कोई भली वस्तु नहीं मिली ?'

'वह कुछ दे तो रहा है ।' वृद्ध अपने पौत्रके द्वारा मुट्ठी भरकर दी गयी धूलिको हाथपर बड़े उल्लाससे ले रहे थे। बच्चा अपने पितामहको धूलि देकर खूब प्रसन्न हो रहा था। 'जो वह दे सकता है, दे रहा है। अपनी समझसे मुझे संतुष्ट करनेका प्रयत्न कर रहा है। किंतु तुम तो अपने पिताको मरनेपर तिल-जल भी देनेको राजी नहीं हो ।'

—'मैं जीवित पिताकी सेवामें ही विश्वास करता हूँ ।' युवक गम्भीर हो गया। वह सुधारवादी है और उसका श्राद्ध, मूर्तिके द्वारा भगवत्पूजा आदिमें विश्वास नहीं है। वह जानता है कि उसके इस विचारसे उसके वृद्ध पिता दुखी रहते हैं; किंतु मनुष्यकी आस्था तो अपनी होती है। पिता मन्दिर जाते हैं, घरमें पूजा करते हैं। अभी तीर्थयात्रापर गये थे। वह उनकी आस्थामें बाधा नहीं बनता; किंतु अपनी आस्था भी वह छोड़नेको प्रस्तुत नहीं है और न पिताको कोई झूठा आश्वासन ही देना चाहता है।

'पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।'

—पिता इस गीताके वचनको पता नहीं क्यों पकड़े बैठे हैं। गीतामें उसकी आस्था है; किंतु गीताके कुछ स्थल उसको ठीक नहीं लगते। वह आर्यसमाजकी शैलीसे गीताको समझता है। फिर यह वचन तो श्रीकृष्णका नहीं है। क्या हुआ कि श्रीकृष्णने इसका खण्डन नहीं किया। वचन तो यह अर्जुनका है और अर्जुन उस समय मोहग्रस्त था।

अनेक बार पिता इस प्रसङ्गको उठाते हैं। आज भी उन्होंने यही प्रसङ्ग उठा लिया। 'मनुष्यका उत्थान पतन, उसकी उच्च या अधोगति उसके अपने कर्मों होती है। पुत्रके दिये पिण्डके बिना पिताकी अधोगति होगी, यह कोई ठीक बात नहीं है।'

पिता जानते हैं कि उनका पुत्र हठी है। अतः बात उन्होंने आगे बढ़ायी नहीं।

× × ×

'पिताके ही रक्त-मांससे पुत्रीका भी निर्माण होता है। पुत्र और पुत्री समान हैं। पिताकी सम्पत्तिमें दोनोंका अधिकार समान होना चाहिये। यह तर्क भोगवादियोंका है।' उस दिन हिंदू-उत्तराधिकार-बिलके विरोधमें जो सभा हो रही थी, उसमें एक विद्वान् वक्ता कह रहे थे।

'हिंदूधर्म भोगवादी नहीं है। हम मानते हैं कि जो उपार्जन करे, उसीका उस उपार्जित सम्पत्तिमें अधिकार है। दूसरे किसीका उस सम्पत्तिपर कोई अधिकार नहीं। फिर वह उसका पुत्र हो, पुत्री हो या और कोई हो।' वक्ताने अपनी बात आगे बढ़ायी।

'हिंदू-उत्तराधिकार-बिल'का वह समर्थक नहीं है; किंतु उसके विरोधके आधार भिन्न हैं। वक्ताकी बातने उसे चौंका दिया। जो उपार्जित करे, सम्पत्ति

उसकी, यह बात उसे सर्वथा उचित और तर्कसंगत लगी।

'आप किसीको कुछ रुपये दे दें और उनसे वह कोई दुष्कर्म करे, उसके दुष्कर्ममें आपकी आर्थिक सहायता आपको पापका भागी बनायेगी या नहीं?' वक्ताने प्रश्न किया।

'निश्चय बनायेगी।' वह आवेशमें बोल उठा।

'पिता जब अपना उपार्जन पुत्रके लिये छोड़ जाता है, पुत्र उसका सदुपयोग या दुरुपयोग करेगा तो पुत्रके कर्मोंका भाग पिताको मिलेगा ही।' वक्ताकी बात अस्वीकार नहीं की जा सकती थी। वे कह रहे थे— 'पुत्री उस धनका उपयोग करनेमें स्वतन्त्र रह नहीं सकती। उसे तो अपने पतिका अनुगमन करना है। उसका पति जैसे चाहेगा, वैसे धनका उपयोग करेगा। जब कि धनके उपार्जनकर्ताको अपने अनुकूल संस्कारोंसे संस्कृत करनेका कोई अवकाश जामाताके लिये मिला नहीं है।'

'सीधी बात है, पैतृक सम्पत्ति पुत्रको केवल उपभोगके लिये नहीं मिलती। वह मिलती है श्राद्ध-परम्परा बनाये रखनेके लिये।' वक्ताने वक्तव्य समाप्त करते हुए कहा—'पैतृक सम्पत्ति न पुत्रकी उपभोग्य है, न पुत्रीकी। पैतृक ऋणको देकर जो बचे, वह है तर्पण-श्राद्धको बनाये रखनेके लिये। अतः जो श्राद्धके अधिकारी नहीं हैं, उन्हें वह सम्पत्ति मिलनी चाहिये— यह तर्क ही सम्पत्तिके उत्तराधिकार-उद्देश्यके विपरीत है।'

उस दिन वह सभासे गम्भीरचित्त घर आया था। जबसे 'हिंदू-उत्तराधिकार-बिल'का प्रश्न उठा है, उसने इसपर बहुत विचार किया है। याज्ञवल्क्य-स्मृतिका दायभाग उसका पढ़ा हुआ है। याज्ञवल्क्यके निर्णयका मूलाधार ही यह है कि श्राद्धका किसके न रहनेपर कौन उत्तराधिकारी होता है।

'पिताकी इच्छापूर्ति नहीं करना है तो पिताकी उपार्जित सम्पत्तिके उपभोगका तुम्हें क्या अधिकार है?' यह प्रश्न सीधा उसके हृदयमें उठा। वह सदाचारी है, संयमी है और लोग उसे ईमानदार समझते हैं। अपने साथ ही वह कैसे बेईमान बन सकता है!

'श्राद्ध!' किंतु श्राद्धकी बात उसकी समझमें आती नहीं है। बहुत उलझनें लिये उस दिन बड़ी कठिनाईसे वह सो सका।

× × ×

'भगवन्! हमारे वंशधर तो अकृतज्ञ, हीनसत्त्व, अश्रद्धालु निकल गये।' क्षीणकाय, दीनवदन, बाष्प-पूरित-लोचन कुछ पुरुष थे। उनका देह अद्भुत था। श्वेतवर्ण मेघोंसे ही जैसे उनके सर्वाङ्ग निर्मित हों। वे एक सशक्त, सत्ताधारी, मणिभूषणभूषित तेजोदेह पुरुषके सम्मुख बद्धाञ्जलि खड़े थे।

अद्भुत दृश्य था। वहाँ न घर थे, न नगर। कोई वृक्ष, लता भी दृष्टिमें नहीं आती थी। केवल मेघदेह व्यक्तियोंका समूह था वहाँ और जैसे वे शून्यमें ही स्थिर हों। उनमें कुछ सुपुष्टकाय, प्रसन्नवदन भी थे; किंतु अधिकांश दुर्बल थे और दुखी लगते थे।

'आप सब जानते हैं कि अर्यमाको अपनी ओरसे कुछ करनेका अधिकार नहीं है।' वे सत्ताधारी बोले— 'मैं केवल कव्यको [श्राद्धके भागको] उचित अधिकारीतक पहुँचा मात्र सकता हूँ। मुझे स्वयं दुःख है कि मेरे पितृलोकके निवासी पृथ्वीकी श्रद्धासे वञ्चित होकर क्षीणकाय होते जा रहे हैं और यह लोक निरन्तर निर्जनताकी ओर बढ़ रहा है।'

'अभी धरापर कुछ श्रद्धा शेष है! कुछ लोग श्राद्ध करते हैं। यद्यपि उसका भी अधिकांश विधिच्युत होनेसे व्यर्थ जाता है, फिर भी कुछ सफल होता है।' वे क्षीण-

काय कह रहे थे—'उसमें कुलोच्छिन्न, श्राद्ध-वर्जित हम-जैसोंके लिये भी एक अञ्जलि जल, एक पिण्ड होता है और अब हम सबका आधार वही रहा है; किंतु वह विनाशोन्मुख है। यदि ...।'

'आप जानते हैं कि यहाँ पाथेयवर्जित प्रतीक्षा सम्भव नहीं है।' अर्यमाने खिन्न स्वरमें कहा—'मरणोत्तर-क्रिया अपूर्ण रहनेपर प्राणी प्रेतयोनिमें रहता है और श्राद्ध-वर्जित पितर भी तबतक प्रेतयोनि पाता है, जबतक उसके अपने कर्म फलोन्मुख न हों। उन कर्मोंका जिन प्राणियोंसे सम्बन्ध है, वे भी प्राणी सुख-दुःख, संयोग-वियोग देनेकी अनुकूल अवस्थामें न आ जायँ। कव्ययुक्त प्रतीक्षा पितृलोकमें और कव्यवर्जित प्रतीक्षा-यातना प्रेतलोकमें चलती है।'

अर्यमाकी बात वज्राघात ही थी उन दुर्बलदेह लोगोंके लिये। उनमें एक अद्भुत आर्तनाद फैला—इतना अद्भुत और व्यापक कि वह किसीके लिये असह्य था। सहसा उसकी निद्रा भङ्ग हो गयी। उसने पाया कि वह लगभग पसीनेसे भीग चुका है।

× × ×

'तुमने स्वप्नमें सचमुच पितृलोकके ही दर्शन किये हैं।' दूसरे दिन जब वह एक साधुके पास गया और उन्हें उसने अपने स्वप्नकी बात सुना दी, तब वे बोले—'स्वप्नमें तुमने जो देखा-सुना है, शास्त्र उसे तथ्य स्वीकार करता है।'

ये महात्मा हैं तो सनातनधर्मी; किंतु इनमें उसकी श्रद्धा है। ये उसे बहुत उदार, विवेकशील, विद्वान् और अपने शुभ-चिन्तक लगते हैं। जब भी उसे कोई मानसिक उलझन होती है, प्रायः इनसे वह सम्मति लेना पसंद करता है; क्योंकि अपने सहयोगियोंमें तो वह स्वयं सबसे अधिक अध्ययनसम्पन्न है।

'श्राद्ध मृत प्राणीको प्राप्त होता है?' उसने सीधा ही प्रश्न किया।

'जीवित प्राणीको क्या प्राप्त होता है, यही बात तुम पहले सोचो।' महात्माने कहा—'तुम्हारा पेट तो रोटी और आम दोनोंसे भर सकता है; किंतु तुम्हारी इच्छा आम खानेकी हो तो वह रोटी खानेसे पूरी तो नहीं होगी।'

'मैं आपका तात्पर्य समझ नहीं सका।' उसने अपनी उत्सुकता व्यक्त की।

'मैं यह बता रहा हूँ कि भूख और लालसा दो भिन्न वस्तु हैं। भूखेको स्थूल भोज्य पदार्थ चाहिये। लालसावालेकी तृप्ति पेटकी तृप्ति नहीं है, मनकी तृप्ति है।' महात्माने समझाया—'मृत प्राणीके पास स्थूल देह नहीं होता, इसलिये उसे स्थूल भूख नहीं लगती। स्थूल पदार्थ सीधे उसे मिले, इसकी उसे कोई आवश्यकता नहीं है। किंतु सूक्ष्मशरीर—मन उसके पास होता है। इसलिये लालसा उसमें होती है। उसकी लालसा तृप्त न हो तो वह क्षुधातुरके समान दुखी रहता है और क्षीण होता है। इसलिये उसकी लालसा तृप्त करनेका उपाय होना चाहिये।'

वह चुपचाप सुनता रहा। महात्माने भी उसे कुछ मिनट दिये सोचने-समझनेके लिये और तब बोले—'जब तुम्हारे पास स्थूलदेह है, तुम्हें आम खिलाकर तुम्हारी लालसा दूर कर दी जाय—यह सीधा उपाय है। आमका कोई अंश तब भी तुम्हारे सूक्ष्मदेहको नहीं मिलता। मिलता तो वह स्थूलदेहको ही है। सूक्ष्मदेहको केवल संतोष मिलता है कि हमने आम खा लिया, किंतु स्थूल आमका उत्सर्ग किये बिना यह संतोष करा देनेका उपाय नहीं है।'

'इसीलिये ब्राह्मणको प्रतिनिधि बनाकर—उसे भोजन कराके या कुशपर पिण्ड देकर सूक्ष्मदेही पितरकी

लालसा तुष्ट करनेका प्रयत्न किया जाता है।' उसने स्वयं यह बात कही—'उपाय तो ठीक है। प्रतिनिधिके मानापमानसे पूरा राष्ट्र अपना मानापमान मानकर तुष्ट या रुष्ट होता है, यह तो प्रत्यक्ष सत्य है; किंतु भोजन ब्राह्मणको ही क्यों ?'

'भूखे दरिद्रको क्यों नहीं ? यह भी कह जाओ।' महात्माने हँसते हुए कहा—'भूखोंको, दरिद्रोंको भोजन करानेका निषेध कहीं नहीं है। किंतु श्राद्ध है श्रद्धापर आधारित। पितर हमको-तुमको दीखते नहीं हैं। उनका प्रतिनिधि कौन बन सकता है ? किसे प्रतिनिधि बनानेपर उससे वे तादात्म्य कर सकेंगे, यह बात शास्त्रैकगम्य है। श्राद्धके लिये सभी ब्राह्मण भी उपयुक्त नहीं होते। उनमें भी उचित पात्र ढूँढ़ना पड़ता है। इसीलिये श्राद्धमें अधिक लोगोंको भोजन करानेका निषेध है। एक, तीन या अधिक-से-अधिक पाँच, बस। पीछे चाहे पूरी जाति या नगरको ही खिला दो; किंतु श्राद्धाङ्गरूपमें संख्या बढ़नी नहीं चाहिये।'

'आज आज्ञा दें। मेरे पिता बीमार हैं दो दिनसे और इस समय उन्हें आश्वासन देना आवश्यक है।' उसने महात्माको प्रणाम करके अनुमति ली।

× × ×

'पिताजी ! आप मेरे अबतकके दुराग्रहको क्षमा करें।' घर आकर उसने सीधे पिताके चरणोंमें मस्तक रख दिया। रुग्ण पिताने खींचकर उसका मस्तक अपने वक्षसे लगाया। वह कह रहा था—'मैं श्राद्ध करूँगा। मुझे अपनी भूल ज्ञात हो गयी।'

'मेरे बच्चे !' पिताका कण्ठ भर आया। उनके नेत्रोंसे अश्रुके बिन्दु टपके। लगा कि उनके हृदयपर जो एक आशङ्काका भारी पत्थर धरा रहता था, भाप बनकर उड़ गया है।

'मैं विधिपूर्वक श्राद्ध करूँगा।' वह दृढ़निश्चयी है और अध्ययनशील है। जब एक बार उसने निश्चय कर लिया, कोई मिथ्या संकोच उसे बाधा नहीं पहुँचा सकता। 'आप स्वस्थ हो जायँ और अभी खूब अधिक दिनोंतक मुझे अपना स्नेह देते रहें। किंतु इस ओरसे निश्चिन्त रहें। मैं यहाँ श्राद्ध करूँगा और गया जाकर भी श्राद्ध करूँगा। आपने ही तो एक बार मुझे बतलाया है कि गया जाकर पिण्डदान कर देनेसे पितरोंकी अक्षय तृप्ति हो जाती है। मेरे पितर कव्य-वर्जित होकर पितृलोकसे न गिरें, यह अक्षय व्यवस्था मैं अपने जीवनमें ही करूँगा।'

दीनकी प्रार्थना

कोई कहते 'संत' मुझे, कुछ कहते—'प्रेमी भक्त महान्'।
कैसा था, क्या था, मैं अब कैसा, क्या हूँ सब तुमको ज्ञान॥
अगणित दुरितोंसे, दोषोंसे, दुर्भावोंसे हूँ भरपूर।
राग-कामना-कोप-दंभ-मद-मान-मोह-ममतासे चूर॥
सदा छिपाता हूँ दोषोंको, साधुवेष करता बदनाम।
घोर अशान्त, भयानक जलती चिन्ताकी भट्ठी अविराम॥
करुणासिंधु पतितपावन प्रभु ! सर्व-सुहृद तुम सहज उदार।
विरुद-हेतु प्रस्तुत रहते नित, करनेको तुम पतितोद्धार॥
दीनबंधु ! मैं महापतित, अति दीन, पड़ा हूँ चरणप्रान्त।
दोष हरण कर सारे, मुझे बना लो निज सेवक शुचि शान्त॥

राम तें अधिक राम कर दासा

(लेखक—पं० श्रीसुनहरीलालजी शर्मा)

संतोंके कारण ही सृष्टिकी सफलता है। सम्पूर्ण संसार और उसके सम्पूर्ण कार्य, समाज, साहित्य और काव्य आदि—सभीपर संतोंकी छाप पड़ी है। संतों और महान् आत्माओंका अवतरण पृथ्वीपर लोकसंग्रहार्थ और जनकल्याणके लिये ही होता है। जिस प्रकार सूर्यके बिना अन्धकारका पूरा नाश नहीं होता, इसी प्रकार यदि पृथ्वीपर ये अवतार न होते, साधु-संत न आते तो अज्ञानके घोर अन्धकारमें डूबी हुई यह पृथ्वी मनुष्योंके रहने योग्य ही नहीं रह जाती। आजकी संकटकालीन स्थितिमें जहाँ छत्रपति शिवाजी-जैसे पराक्रमी नीति-निपुण वीरोंकी आवश्यकता है, वहाँ मार्गदर्शनके लिये समर्थ गुरु रामदास-जैसे संतोंकी भी आवश्यकता है। घोर अन्धकार तथा विनाशके भयानक गर्तमें मिली हुई मानवजातिको प्रकाश देकर उसे बचानेके लिये संतजन ही कभी न बुझनेवाली दिव्य ज्योति हैं। संकट और पाप-तापसे पीड़ित मानवके लिये संतजन सुख-शान्तिके गम्भीर और अगाध समुद्रके समान हैं। मोहरूपी सरिताके प्रबल प्रवाहमें बहते हुए प्राणियोंके लिये संतोंके वाक्य सुदृढ़ सुखमय जहाज हैं। गोस्वामीजीके शब्दोंमें—

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

असुरनाशक भगवान्! जगत्में अहैतुक उपकार करनेवाले दो ही हैं—तुम और तुम्हारे सेवक (भक्त-संत)।

संतोंके सांनिध्यसे क्या नहीं हो सकता। तमोऽभिभूत अवनत और पतितहृदय मानव सहज ही समुन्नत और समुज्ज्वल बन जाता है।

संतोंके अन्तस्तलका दिव्य आनन्द उनके अन्तःकरण, इन्द्रिय, शरीर और आस-पासके प्रदेशों—सभी प्राणी-परिस्थितियोंको आनन्दपूर्ण किये रहता है। पद्मपुराणमें आया है—

अपां संस्पर्शनात् स्नानात् पानाद्दर्शनतोऽपि वा।
मनुष्याः सिद्धिमायान्ति बाह्याभ्यन्तरक्षालिताः॥
आयुष्मन्तो भवन्त्येते लोकाः सर्वे चराचराः।

अर्थात् जलके स्पर्शसे, उसमें स्नान करनेसे, उसे पीनेसे तथा उसके दर्शनसे भी बाहर और भीतरके दोष धुल जानेके कारण मुनिलोग सिद्धि प्राप्त करते हैं तथा चराचर प्राणी जल पीते रहनेसे दीर्घायु होते हैं, वैसे ही—

सतां सङ्गो महापुण्यो बहुक्षेमप्रदायकः।

संतोंका सङ्ग महान् पुण्यस्वरूप एवं परम कल्याणकारक है। जैसे अग्निके सम्पर्कमें आनेसे स्वर्ण सम्पूर्ण मैलसे रहित हो जाता है, वैसे ही सत्पुरुषोंके संसर्गसे मानव पापका परित्याग कर देता है—

यथा वह्निप्रसङ्गाच्च मलं त्यजति काञ्चनम्।
तथा सतां हि संसर्गात् पापं त्यजति मानवः॥

इसीलिये वह कुल पवित्र है, वह जन्म देनेवाली माता कृतकृत्य है, वह धरती सौभाग्यवती और धन्य है और स्वर्गमें स्थित वे पितर भी धन्य हैं, जहाँ जिनके कुलमें भगवद्भक्तका उदय होता है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा भाग्यवती च धन्या।
स्वर्गस्थिता ये पितरोऽपि धन्या
येषां कुले वैष्णवनामधेयम्॥

संतोंके दर्शनमात्रसे महान् पुण्य तथा आनन्दका संचार होता है। बहुत-से पारखी उनकी बाह्य आकृति देखकर भी उनके आन्तरिक आनन्दका अनुमान लगा लेते हैं। संतोंके व्यावहारिक जीवनकी बातें भी अत्यन्त निराली ही होती हैं।

परमात्माको प्राप्त ऐसे संत स्वयं ही कृतार्थ नहीं होते, वे संसार-सागरमें डूबते हुए असंख्य प्राणियोंका उद्धार करके उन्हें सहज ही दिव्यधाममें पहुँचानेके लिये

सुदृढ़ जहाज बन जाते हैं। ऐसे संत-महात्माओंका पृथ्वीपर रहना और विचरना चेतन प्राणियोंके लिये ही नहीं, जड जगत्को भी पवित्र करने और तरन-तारन बनानेके लिये होता है।

गोस्वामीजीने लिखा है—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी।
कोउ एक होइ धर्म ब्रतधारी॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई।
बिषय बिमुख बिराग रत होई॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई।
सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई॥
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ।
जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुख खानी।
दुर्लभ ब्रह्म लीन बिग्यानी॥
सब ते सो दुर्लभ सुरराया।
राम भगति रत गत मद माया॥

ऊपरके वर्णनसे स्पष्ट है कि ऐसा भक्त जो मद-माया छोड़कर रामकी भक्तिमें लीन हो, मिलना अत्यन्त कठिन है। भगवान्को ऐसे ही भक्त प्रिय हैं—

तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा।
जेहिं गति मोरि न दूसरि आसा॥

ऐसे राम-भक्तोंकी बड़ी महिमा है। भक्तके दर्शन, स्पर्श, चरण-सेवन आदिका सुअवसर मिल जाय, तब तो कहना ही क्या है। गोस्वामीजीने लिखा है—

जब द्रवहिं दीनु दयालु राघव साधु संगति पाइए।
जेहि दरस, परस, समागमादिक पाप रासि नसाइए॥

ऐसे भक्तोंका स्मरण भी पापनाशक, पुण्योत्पादक एवं भगवत्-प्रीतिदायक है।

भक्त जिस पृथ्वीपर बैठते हैं, जिस जलाशय या नदीमें स्नान करते हैं, जिस कालमें विचरण करते हैं, जिस देशमें रहते हैं, वही देश, काल, नदी, सरोवर पवित्र तीर्थ बन जाता है। भक्त जो कुछ करते हैं वही आदर्श सत्कर्म माना जाता है। भक्तोंकी वाणी ही सत्-शास्त्रोंका रूप धारण कर लेती है। यथा—

तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मी कुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्री कुर्वन्ति शास्त्राणि।

भक्त तीर्थोंको तीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र बना देते हैं। भक्त भगवान्का ही प्रतीक होता है, वरं यों कहिये कि—

मोरे मन प्रभु अस बिसवासा।
राम तें अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा।
चंदन तरु हरि संत समीरा॥

उपर्युक्त वचन काकभुशुण्डिजीके हैं। इनका भाव यह है कि 'मेरे मनमें ऐसा विश्वास है कि रामसे रामके दास बढ़कर हैं।' इस विश्वासमें यह भाव झलक रहा है कि महात्माओंका विश्वास अक्षयवटकी तरह अचल होता है।

समुद्र अगाध है, एक जगह स्थित है। सबको प्राप्त नहीं और प्राप्त भी हो तो उसका खारा जल पीनेके योग्य नहीं। बादल समुद्रसे मीठा-मीठा जल निकालकर सर्वत्र उसकी वर्षा करते फिरते हैं। वैसे ही भगवान् रामकी प्राप्ति कठिन है; परंतु संतजनोंद्वारा वे सर्वसुलभ हो जाते हैं।

संसारमें यदि रामके दास (भगवद्भक्त) नहीं होते तो रामके चरित्र, भगवान्की रहस्यमय मधुर लीला वेदों और पुराणोंमें ही लिखी रह जाती, उन्हें कोई जानता भी नहीं कि राम कौन हैं, क्या हैं ? यह संतोंकी कृपाही-का फल है कि आज रामगुणगान सबके लिये सुलभ है। जगत्में जो आनन्दका लेश है, वह सब इन्हीं संतोंकी कृपाका फल है, उन्हींकी सहज देन है। ऐसा करनेमें इनका कोई स्वार्थ नहीं है। ये पूर्णकाम हैं, जीवन्मुक्त हैं।

भगवत्-प्रेमी सेवकके लिये धनी और निर्धन, सबल और निर्बलमें कोई भेद नहीं रहता। वह कहीं वृक्षोंको

सींचता है तो कहीं मछलियोंको आटेकी गोलियाँ खिलाता है। कहीं कोढ़ियोंकी सेवा करता है तो कहीं चींटियोंको चीनी देता है। पर वह सब करता है निरभिमान होकर भगवान्‌की सेवाके लिये ही। ऐसे भगवद्भक्त सेवककी सेवा, सेवा नहीं होती, वह साक्षात् भगवान्‌की सेवा होती है। सेवा ही उसके लिये ब्रह्मानन्द अथवा परमानन्द बन जाती है। भक्त मानता है कि सम्पूर्ण संसार भगवान्‌का शरीर है, (हरेः शरीरम्) संसारका प्रत्येक प्राणी भगवान्‌का ही सनातन अंश है। इसीलिये भगवान्‌का भक्त परमात्माकी सत्ताको विद्यमान जानकर ही किसी व्यक्तिकी सेवा-पूजा करता है।

संत अथवा भक्तका यह जन्मजात स्वभाव होता है कि वह अपकार करनेवालेका भी उपकार करता है—

उमा संत की इहइ बड़ाई।
मंद करत जो करइ भलाई॥

ऐसे ही संतोंकी रक्षाके लिये भगवान् अवतार लेते हैं—

तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे।
धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥

जिस पृथ्वीपर ऐसे भक्त विचरण करते हैं, वह पवित्र और सुन्दर गिनी जाती है। ऐसे भक्तोंको भगवान् एक क्षण भी विस्मृत नहीं कर सकते। सचमुच संसारमें ये राम-भक्त अथवा संत न होते तो भगवान्‌को कोई भी नहीं जानता। इसलिये गोस्वामीजीका यह कथन सत्य ही है कि—

'राम तें अधिक राम कर दासा'

हमारी राष्ट्र-व्यवस्थाका एक आदर्श रूप

(लेखक—श्रीगंगाप्रसादजी पाण्डेय एम्०ए०)

भारतीय आर्ष ग्रन्थोंके अनुसार समस्त मानव-जगत् एक ही सत्तासे प्राणवान् है, एक ही परम विराट् पुरुषका शरीर है। एक जीवित देहके अङ्ग-प्रत्यङ्गकी भाँति किसी एक जाति, श्रेणी या सम्प्रदायको अन्य दूसरी जाति, श्रेणी या सम्प्रदायसे अलग करके उसका हित नहीं किया जा सकता। व्यक्तिसे निर्मित समाज और तज्जन्य राष्ट्रको निर्बाध प्रगतिके पथपर निरन्तर अग्रसर कराते रहनेके लिये आवश्यक है कि सभी अपनेको एक दूसरेका पूरक जानते हुए, किसीके स्वार्थसे टकराये बिना ही अपने-अपनेको एक ही प्राण, मन और बुद्धिसे अनुप्राणित मानें। अथर्ववेदकी पैप्पलाद शाखाका ऋषि, प्रत्येक प्राणवान् इकाईमें कितनी सुन्दर, सहृदयता और समनस्कताकी कल्पना करते हुए कहता है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ १॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शान्तिवाम्॥ २॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ ३॥
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ ४॥
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट
संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥ ५॥
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥ ६॥
सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्ये-
कश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः
सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥ ७॥
(अथर्व० का० ३ सूक्त ३०)

'इस प्रकार मैं परम अग्निकी उपासना करता हूँ जिससे तुम सबके हृदयों एवं मनोंमें सम्यक् मिलन हो और द्वेषभाव दूर हो जाय। जैसे अपने नये बछड़े

प्रति गाय आकृष्ट होती है, तुम सब भी उसी प्रकार एक दूसरेके प्रति आकृष्ट हो। पुत्र पिताके कल्याणकी बात सोचे, माताके साथ एक मन हो। पत्नी अपनी मधुर वाणीसे स्वामीके मनको शान्ति प्रदान करे। भाई-भाई, बहिन-बहिनमें द्वेषभाव न हो, सब एक लक्ष्य-साधन एवं व्रत-पालनमें परस्पर मिलकर मधुर वाक्योंसे आपसमें सम्भाषण करें। जैसे ईश्वरभावनाके बलसे देवगण परस्पर विच्छिन्न नहीं होते, न किसीमें विद्वेष ही रखते हैं, मैं तुम सबके घरोंमें उसी सुमतिदात्री ब्रह्मभावनाको प्रतिष्ठित करता हूँ। एक-मन होकर छोटे-बड़ेके नियमके अनुसार उद्देश्य-साधनमें रत प्रत्येक मनुष्य अपना-अपना कार्यभार वहन करे। बिना विलग हुए आपसमें मधुर सम्भाषण करते हुए आगे बढ़ते रहनेके लिये मैं तुम सबको एक लक्ष्यमें निबद्ध और एक-मन होनेको आह्वान करता हूँ। एक ही पौंसलेमें जल पीयो, एक अन्नसत्रमें समभाग करके अन्न-भोग करो। मैं तुम सबको एक ही स्नेहरज्जुमें बाँधता हूँ। तुम सब मिलकर अग्निदेवकी परिचर्या करो और जिस प्रकार रथ-चक्रके अरे एक ही धुरीको केन्द्रित करके अपना-अपना कार्य करते हैं, तुम सब भी उसी प्रकार सुमहान् आदर्शसे प्रेरित होकर एक ही परम देवताको जीवनके केन्द्रमें प्रतिष्ठित करके अपने-अपने व्रतोंको सम्पन्न करते हुए उसकी सेवामें लगे रहो। इस एक ही साम्य-साधक स्तोत्रके द्वारा मैं तुम सबको एक लक्ष्यमें नियोजित करता हूँ। सब एकान्त-भोजी हों। जैसे स्वर्गके देवगण अमृतकी रक्षामें एक-मन होकर जुटे रहते हैं, तुम सब भी उसी प्रकार अखण्ड मानवताकी रक्षामें एक-मतिसे लगे रहो।

व्यक्तिकी पृथक् सत्ताके साथ-ही-साथ समस्त राष्ट्र ही क्यों, अपितु पूरे मानव-समाजमें एक-प्राणकी सरस अनुभूतिका कितना रम्य चित्र है यह। जिस मानव-समाजमें अपने-अपने कल्याण और अभ्युदयके साथ-ही-साथ प्रत्येक व्यक्ति बहुवचनमें एक-प्राण होकर **'यतेमहि स्वराज्ये'** की घोषणा कर सके, शत्रु उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकता। ऐसे राष्ट्रका प्रत्येक प्राणी हाड़-मांसका पुतलामात्र नहीं होता, अपितु उसकी जड-देहमें निर्विकार तथा अवध्य आत्माका निवास है। वह जानता है—**'अहमिन्द्रो न पराजिग्ये'** मैं आत्मा हूँ, मुझे कोई पराजित नहीं कर सकता। इस प्रकार अमित शक्तिसे संचरित विभिन्न इकाइयोंमें भासनेवाला समानधर्मी एक-प्राण राष्ट्र आत्मसम्बोधनके स्वरमें कहता है—

उद्बुद्ध्यध्वं समनसः सखायः।

'एक-विचार और ज्ञानसे युक्त मित्रजन! उठो, जागो।'

व्यक्ति और राष्ट्रधर्ममें जिस अनुपातका अन्तर होता है, उसे छोड़ देनेपर समूचे राष्ट्रका किसी महान् लक्ष्यकी दिशामें एक-संकल्प होना अत्यावश्यक है। वह संकल्प तभी होगा, जब पारस्परिक स्वार्थोंमें टकराव न हो और हर इकाई किसी महान् स्वार्थके लिये छोटे-छोटे स्वार्थोंको बलिदान कर सकनेकी क्षमता रक्खे। वे ही ऐसा कर सकेंगे, जिनका मन पुनीत संकल्पोंवाला होगा, जो अन्य प्राणियोंकी ओरसे लापरवाह नहीं होंगे और पापकी कमाईको त्यागकर पुण्यार्जनसे गृहस्थीकी शोभा बढ़ाना चाहेंगे। इस प्रकारके राज्यमें सबकी सुख-समृद्धि सम्भव है और रामराज्यके आदर्शों और साम्यवादकी साम्यस्थितियोंका मधुर गठबन्धन भी सम्भव हो सकेगा।

राज्य-संचालनका यह कार्य आसान नहीं होगा। किस प्रकारका शासक ऐसा राज्य चला सकेगा, इस विषयमें वेदकी यह सूक्ति कितनी वैज्ञानिक है, कहा नहीं जा सकता **'हे ईयचक्षुषा, मित्र, सूरयः! वयं स्वराज्ये आ यतेमहि'** हे व्यापक दृष्टिवालो, हे मित्रत्व-व्यवहारी, समत्वदर्शी ज्ञानीजन! आइये, हम सब परस्पर मिलकर सबके कल्याणवाहक स्वराज्यको लानेका प्रयत्न करें। इस प्रकारके योग्य अधिकारी ही बहुजनहिताय राष्ट्रको सुन्दर सुव्यवस्थाओंके माध्यमसे समृद्धिकी ओर ले जा सकनेमें समर्थ हो सकेंगे। देखना है राष्ट्र-संचालनका

यह महान् संकल्प हमारे राष्ट्र-कर्णधारोंमें जागेगा भी या नहीं !

'व्यचिष्ठे बहुपाये स्वराज्ये आ यतेमहि'
'पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्'

विस्तृत और बहुतोंके द्वारा जिसका पालन होता है, ऐसे राज्य-शासनमें हम जनताकी भलाईके लिये यत्न करते रहेंगे । समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर एक-राज्य होगा। सारी वसुधा ही हमारी राज्य-सीमा है ।

चन्दन बनो

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

तनकी सुदृढ़ताके लिये सजग-सचेष्ट रहकर उसे नित्य-निरन्तर सबके हितमें घिसो ।

मनकी पवित्रताके लिये सतत जागरूक एवं प्रयत्नशील रहकर अपने चारित्र्य-सौरभसे विश्वके कण-कणको सुरभित कर दो ।

तन-मनसे चन्दन बन जाओ ! चन्दन······असली मलयागिरि चन्दन !

चन्दन बनकर दुःख-दावानलसे संतप्त हृदयोंको शीतल करो और करो नाना भ्रम-भ्रान्तियोंकी दुर्गन्धसे पूर्ण एवं तत्प्रसारक मस्तिष्कोंको सुवासित एवं सुवास-प्रसारक ।

करते ही जीवनमें रस आयेगा, जीवनका रस आयेगा; जीवन रस-ही-रस हो जायगा ।

जीवन-कृतार्थता चरण चूमती फिरेगी ।

और क्या चाहिये ?

× × × ×

सोच क्या रहे हो ?

आगा-पीछा मत देखो ।

बारहबानीके बन जाओगे बारहबानीके, चन्दन बनो तो ।

अरे और क्या, परम प्रियतम प्रभुके अङ्ग लग जाओगे । जन्म-जन्मान्तरकी साध सध जायगी ।

और अङ्ग लगे नहीं कि वे ही हो जाओगे ।

सुना नहीं ?

और हो क्या जाओगे, हो ही ।

बिन्दु सिन्धु ही तो है ।

सिन्धुसे छिटककर ही तो बिन्दु कहला रहा है ।

सिन्धुसे मिला नहीं कि सिन्धु हुआ नहीं ।

बिन्दु सिन्धु ! !······

और क्या होगी इससे बढ़कर जीवन-कृतार्थता !

बोलो !

दैनिक जीवनमें स्वर-विज्ञान*

(लेखक—श्रीशशिप्रकाशजी शर्मा एम्० ए०, बी-कॉम्०, विशारद)

यद्यपि स्वर-विज्ञानमें प्रवीणता प्राप्त करनेके लिये सतत अभ्यास और अत्यधिक सूक्ष्म बुद्धि अपेक्षित है, तथापि हम अपने दैनिक जीवनमें भी इसका थोड़ा-बहुत लाभ अवश्य उठा सकते हैं ।

प्राचीन योगियों और मनीषियोंने मानवके कल्याण-हेतु नाना साधन और क्रियाएँ आविष्कार की हैं । कल्याण भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक—दोनों ही क्षेत्रोंमें उत्तरोत्तर अग्रसर होना और पूर्णता प्राप्त करना मानवका परम धर्म है । उसी धर्मको धारण और पालन करनेके लिये हमारे ब्रह्मलीन ज्ञानियोंने हमें प्रसादरूप ऐसे-ऐसे साधन और क्रियाएँ प्रदान की थीं, जो इस समयतक बिल्कुल लुप्त-सी हो चुकी हैं । किंतु किसी समय वह हमारे दैनिक जीवनका एक अभिन्न अङ्ग थीं और हमारे पूर्वज उनका प्रयोग अपने भौतिक जीवनको सुखी, समृद्ध और उन्नत बनानेके लिये करते थे । भौतिक सुख और आनन्दका उपभोग करनेके बाद अपनी आध्यात्मिक उन्नतिके हेतु उनकी शरण लेते थे । आज वे सब बातें कल्पनातीत और शेख-चिल्लीकी कहानियाँ-सी प्रतीत होती हैं । भूतकालकी वे स्वभावगत क्रियाएँ आज चमत्कारिक प्रतीत होती हैं । तथापि एक समय था, जब हमारे पूर्वजोंमेंसे अनेक उन क्रियाओं और साधनोंका अपने दैनिक जीवनमें प्रयोग करते थे ।

उन्हीं अनेक चमत्कारिक और अद्भुत विद्याओंमेंसे एक विद्या 'स्वर-विज्ञान' है । 'स्वर-विज्ञान'का सहज अर्थ है—'श्वास-प्रक्रियाका अध्ययन और प्रयोग ।' हमारी नासिकाके दो छिद्र हैं—एक दाहिना, दूसरा बाँया । इन छिद्रोंमेंसे आने-जानेवाली वायुको ही श्वास या 'स्वर' कहते हैं । इन दोनों 'स्वरों' का पर्याय 'नाड़ी' भी है । हमारे शरीरमें नाड़ियाँ तो कई सहस्र हैं, परंतु उनमेंसे मुख्य केवल दस ही हैं और उन दसमें भी तीन प्रधान नाड़ियाँ हैं तथा उन तीनमें भी सर्वप्रधान नाड़ी एक है, जिसे 'सुषुम्ना' के नामसे जाना जाता है ।

बाँये नासाछिद्रसे आने-जानेवाले श्वासको 'इड़ा नाड़ी या चन्द्र-स्वर' कहते हैं, इसमें 'चन्द्र'का निवास है । दाँये नासाछिद्रसे आने-जानेवाले श्वासको 'पिङ्गला नाड़ी' या 'सूर्य-स्वर' कहते हैं, इसमें सूर्यका निवास है । जब श्वास नासिकाके दोनों छिद्रोंमेंसे समानरूपमें निर्बाध गतिसे आता-जाता है तो समझना चाहिये कि इस समय 'सुषुम्ना नाड़ी' प्रवहमान है । एक नासा-छिद्रको बंद करके दूसरेके प्रवाहका अनुभव करके यह जानना कठिन नहीं है कि इस समय कौन-सा स्वर या नाड़ी प्रवहमान है । जिस छिद्रसे वायु आने-जानेमें रुकावट प्रतीत हो तब समझना चाहिये—उसके विपरीत नाड़ी चल रही है । जिस नासा-छिद्रसे श्वास सरलतासे आ-जा रहा होगा, वह उसी ओरकी नाड़ी या स्वर माना जायगा ।

यह प्रकृतिका एक अटल और शाश्वत नियम है कि नित्य सूर्योदयके समयसे ढाई-ढाई घड़ी अर्थात् एक-एक घंटा दोनों ओरका श्वास क्रमसे एकके बाद एक चलता है । एक ओरके श्वाससे दूसरी ओरके श्वासमें बदलते समय कुछ क्षणोंके लिये दोनों नासा-छिद्रोंसे भी श्वास चलने लगता है, उस समय जानना चाहिये,

* विषयका प्रारम्भिक परिचय प्राप्त करनेके लिये लेखकका 'भारतकी लुप्तप्राय विद्या—स्वर-विज्ञान' लेख 'कल्याण' के फरवरी १९६० अङ्कमें पढ़िये ।

सुषुम्ना स्वर चल रहा है। किस दिन सूर्योदयके समय कौन-सा स्वर चलना चाहिये इसका भी एक निर्दिष्ट नियम है और प्रायः प्राकृतिक रूपसे चलता भी वही स्वर है जिसको उस तिथिमें चलना चाहिये।

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करस्तु सितेतरे।
प्रतिपत्तो दिनान्याहुस्त्रीणि त्रीणि क्रमोदये॥
(पवन-विजय-स्वरोदय)

शुक्लपक्षकी प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीयाको सूर्योदयके समय इड़ा नाड़ी या चन्द्रस्वर चलना चाहिये। फिर चतुर्थी, पञ्चमी और षष्ठीको पिङ्गला नाड़ी या सूर्यस्वर चलना चाहिये और आगे भी तीन-तीन दिनके इसी क्रमसे। कृष्णपक्षकी प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीयाको सूर्योदयके समय पिङ्गला नाड़ी या सूर्यस्वर चलना चाहिये और फिर चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठीको इड़ा नाड़ी या चन्द्रस्वर।

सूर्योदयके समय उपर्युक्त नियमपूर्वक यह स्वर चलना ही चाहिये। तत्पश्चात् एक-एक घंटेके क्रमसे भले ही बदलता रहे। यदि सूर्योदयके समय नियमानुसार स्वर नहीं चल रहा हो तो उसको शय्यात्याग करनेसे पूर्व ही बदल देना चाहिये।*

यदि आपका श्वास-प्रश्वास उपर्युक्त नियमोंके अन्तर्गत निश्चित तिथिमें निश्चित नासिका-छिद्रसे सूर्योदयके समय नहीं आ-जा रहा हो तो समझ लेना चाहिये कि आज कुछ हानि होनेकी सम्भावना है। अतः श्वास-प्रश्वासकी चालको ध्यानपूर्वक समझकर ही नित्य शय्या-त्याग करना चाहिये। ऐसा करनेसे शरीर स्वस्थ रहता है और दीर्घायु होती है। शय्या छोड़ते समय जिस ओरका श्वास बहता हो, इसी ओरका पग पहले भूमिपर पड़ना चाहिये।

नित्य शय्या त्यागते समयके इस स्वर-नियमके अतिरिक्त रात्रिको सूर्यस्वर और दिवसको चन्द्रस्वर चलानेका प्रयास करना चाहिये। इस नियमका अभ्यास करनेसे दिवस और रात्रिके प्राकृतिक प्रभावसे शरीर अपनी रक्षा स्वयं कर लेता है।

नाड़ी-शोधन—'स्वर-विज्ञान' से लाभ उठानेके लिये, उसका अभ्यास करने और उसकी चमत्कारिक अद्भुत शक्तिका आभास पानेके लिये कुछ प्रारम्भिक तैयारी भी करनी होती है। उस प्रारम्भिक अभ्यासके किये बिना इस विद्यामें पूर्णता पाना नितान्त असम्भव है। यह प्रारम्भिक अभ्यास है—'नाड़ी-शोधन'। घड़ीके पुर्जोंमें यदि मैल होगा तो वह चलेगी नहीं; चलेगी तो ठीक-ठीक समय नहीं बतायेगी। कभी सुस्त चलेगी और कभी तेज। ठीक इसी प्रकार जबतक हमारी नाड़ियाँ बिल्कुल शुद्ध नहीं होंगी, वह ठीक और सही कार्य नहीं कर सकेंगी। नाड़ियोंका शोधन किये बिना इस विद्यासे यदि हम लाभ उठाना चाहें तो एक मूर्खता होगी।

'नाड़ी-शोधन' की अनेक यौगिक क्रियाएँ हैं जिनका अभ्यास साधारण गृहस्थके लिये कठिन है। उनका अभ्यास व्यावहारिक प्रशिक्षणके बिना न तो कोई कर सकता है, न करना ही चाहिये और जो हठधर्मी करते हैं वे हानि उठाते हैं। उन क्रियाओंका अभ्यास तो गृहस्थ त्यागियोंको करते भी नहीं देखा जाता।

'नाड़ी-शोधन' की सहज क्रिया है—सिद्धासन या पद्मासनमें स्थिर बैठकर दाहिने हाथके अंगूठेसे दाँये नासाछिद्रको बंदकर बाँये नासाछिद्रसे धीरे-धीरे श्वास खींचें। इतना खींचते जायँ जितना खींच सकते हैं। जब ऐसा करनेमें असमर्थ हों तो बिना विलम्ब किये बाँया नासा-छिद्र बंद करके दाँये नासाछिद्रसे धीरे-धीरे श्वास छोड़ना प्रारम्भ कर दें। आगे भी इसी प्रकार

* (स्वर बदलनेकी प्रक्रिया आगे लिखेंगे)

दाँयें-बाँयें श्वासका प्रयोग करते रहें। इस बातका विशेष ध्यान रहे कि श्वास खींचना बंद करते ही तत्काल छोड़ना प्रारम्भ कर दें और छोड़ते समय भी गति उतनी ही रहे, जितनी खींचते समय थी।

यह अभ्यास प्रातः-सायं धीरे-धीरे बढ़ाते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे मास-डेढ़ मास पश्चात् आपकी नाड़ी शुद्ध होने लगेगी। उस समय आप स्वयं अनुभव करेंगे कि आपका शरीर हल्का और स्वस्थ होता जा रहा है, मनमें एक विशेष स्फूर्ति आती जा रही है। जब आप ऐसा अनुभव करने लगें, तभी समझ लीजिये कि आपकी नाड़ियाँ शुद्ध हो गयीं और अब आप योग तथा 'स्वर-विज्ञान' का अभ्यास करने योग्य हो गये हैं।

अपनी सभ्यताके प्रति अनादर

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

पञ्चवर्षीय नियोजनके संक्रान्तिकालमें आमजनताको आर्थिक कष्टोंसे गुजरना पड़ता है। यह एक ध्रुव सत्य है। फिर भी हमारे देशमें आजकलके नियोजनकालमें उतना संकट नहीं आया, जितना निरीश्वरवादी कम्यूनिस्ट देशोंमें साम्यवाद-के शासनके बाद सोवियत रूसमें आमजनता दस वर्षतक एक-एक टिकिया साबुनके लिये तरस गयी थी। कम्यूनिस्ट चीनकी सरकारी रिपोर्टके अनुसार वहाँ सवा करोड़ नवयुवक बेकार घूम रहे हैं।

पर हमारे नियोजनका एक दोष ऐसा है, जो भारतीय सभ्यताकी पृष्ठभूमिमें हरेकको खटकेगा। हम औद्योगिक, आर्थिक, सामाजिक हर प्रकारकी प्रगति चाहते हैं, पर उस प्रगतिको सम्हालनेवाली शिक्षाको हम वास्तविक महत्त्व नहीं दे रहे हैं। शिक्षाप्रणालीमें सुधारकी बात तो सभी लोग करते हैं; पर शिक्षाका जो बौद्धिक तथा धार्मिक आधार बनना चाहिये, वह नहीं बन रहा है।

लगभग ढाई करोड़ विद्यार्थी भारतके स्कूल-कालेजोंमें शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। यदि हम इनमेंसे पचीस फीसदीको भी नैतिक तथा धार्मिक दृष्टिसे बलवान् बना सकें तो भारतमें ही नहीं, संसारमें नैतिक क्रान्ति करनेके लिये एक विशाल सेना तैयार हो जायगी; पर हम ऐसा नहीं कर रहे हैं।

संसारका चरित्र गिर रहा है

आधुनिक सभ्यतामें चकाचौंध है, दम नहीं है। भीतरसे वह इतनी खोखली हो गयी है और होती चली जा रही है कि पश्चिमके देशोंको कोई रास्ता नहीं सूझ रहा है। भारतीय सभ्यताने परिवार तथा माता-पिताकी जिस मर्यादाको समाजमें सर्वोपरि स्थान दिया था, पश्चिमने उन्हें मूर्खतापूर्ण प्रयास कहकर ठुकरा दिया था। आज वे ही पछताकर हमारी बातपर आ रहे हैं।

प्रोफेसर एफ० ए० कू, डा० जॉन बानुलवी, श्री बी० एस० राउन्ट्री, श्री जी० आर० लेवर्स, अलवा मिरदल, वर्जिनिया विम्बरिस—ऐसे अनेक लेखक और लेखिकाओंने अपनी पुस्तकोंमें लिखा है कि आजकी सभ्यता बराबर गिरती चली जायगी, यदि हम अपनी संतानको नैतिक, आत्मिक तथा परिवारकी शिक्षा न देंगे। ऐसी शिक्षाके अभावमें पश्चिमके देशोंकी बुरी हालत है।

जारज संतान

सन् १९५८ में इंग्लैंड और वेल्समें ८९,००८ जायज़ बच्चे यानी विवाहित मातासे पैदा हुए और ३४,११५ अविवाहित माताकी संतान थे। सन् १९५० में उस देशमें ०.७ प्रतिशत जारज पैदा हुए थे, सन् १९६० में १२ प्रतिशत। प्रत्येक २० बच्चे पीछे एक जारज संतानका औसत सन् १९६३ में था। पश्चिम जर्मनीमें सन् १९५७ में ६०,३९७ यानी ७.७ प्रतिशत जारज बच्चे पैदा हुए। संयुक्तराज्य अमेरिकामें प्रति पाँच विवाह करनेवाली स्त्रियोंमें एक माता बन चुकी होती है। इंग्लैंडमें चार पीछे एकका औसत है। पिछले महायुद्धकालमें इंग्लैंडमें अविवाहित माताओंकी संख्या बहुत बढ़ गयी थी। अर्जेंटीनमें ७० प्रतिशत संतान अविवाहित मातासे पैदा होती है और मेक्सिकोमें २२ प्रतिशत। संयुक्तराज्य अमेरिकामें ४, ५ प्रतिशतका औसत है। जहाँ विलासिता इतनी नीचे उतर आयी हो, वहाँकी आध्यात्मिक स्थिति क्या हो सकती है—यह प्रत्यक्ष है।

हमारा ऐसा ख्याल है कि पश्चिममें लोग दीर्घजीवी तथा बड़े सुखी होंगे। संयुक्त-राज्य अमेरिकाका उदाहरण लीजिये। सन् १९६० में वहाँपर ८० लाख विधवाएँ तथा २२,१९,३५५ विधुर थे। स्त्री विधवाओंकी संख्या चौगुनीके लगभग थी। सोवियत रूसमें स्त्रियोंकी संख्या इतनी अधिक

हो गयी है कि विवाहकी ज़रूरत ही समाप्त कर दी गयी है। सन् १९४४ के कानूनके अनुसार विवाहित माता-पिताकी संतानको पिताकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारसे वञ्चित कर दिया गया है। सबसे अधिक संतान पैदा करनेवाली अविवाहित माताओंको सरकारकी ओरसे 'मेडल' (पदक) व पुरस्कार मिलता है। ऐसी सभ्यता कहाँतक नीचे न उतरेगी ? और हम इसीके लिये पागल हुए जा रहे हैं।

डा० जानरीसने लिखा है कि आजकी सभ्यतामें मनुष्यका जीवन इतना क्लिष्ट और संकटमय हो गया है कि उसके मनपर प्रमादका प्रभाव घर कर गया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि जबतक ईश्वर तथा आत्माकी ओर न मुड़ा जायगा; आजका मानव ऊपर नहीं उठ सकता।

आत्महत्या

मानसिक उलझन तथा प्रमादका ही प्रभाव है कि भरपूर वैभव तथा सम्पदा होते हुए भी संयुक्त-राज्य अमेरिकामें प्रति १०,००० व्यक्ति पीछे एक व्यक्ति प्रतिवर्ष आत्महत्या कर लेता है। सन् १९५८ में उस देशमें १८,४०० आत्महत्याएँ हुईं; सन् १९६० में एक लाख व्यक्तियोंने आत्महत्याकी चेष्टा की। पश्चिमीय देशोंमें आत्महत्या इतनी तेजीसे बढ़ रही है कि इंग्लैंड ऐसे छोटे-से देशमें सन् १९६१ में ३,०३१ पुरुष तथा २,१८१ स्त्रियोंने यानी कुल ५,२१२ व्यक्तियोंने आत्महत्या की।

पश्चिमी मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि आजके युगमें मानसिक रोग बहुत बढ़ गये हैं और मानसिक रोगीकी संतान ही बहुत खराबी पैदा कर रही है। अतएव मानसिक रोगकी तहमें बैठे संयुक्त-राज्य अमेरिकामें सन् १९०० से १९५९ तक २७,४३६ मानसिक रोगी व्यक्ति तथा ३१,९३१ मानसिकरूपसे दुर्बल पुरुषोंको नपुंसक बना दिया गया ताकि वे रोगी संतान न पैदा करें। सोचनेकी बात है कि क्या सभ्यताकी रक्षा लोगोंको नपुंसक बनाकर ही हो सकती है ?

अर्ल स्टैनली गार्डनरने आजके लोगोंके बारेमें स्पष्ट लिखा है कि वे वास्तवमें पाखण्डी हैं। वे नैतिकतापर व्याख्यान देनेमें आनन्द प्राप्त करते हैं; पर वे चाहते हैं अनैतिक तथा भ्रष्ट साहित्य पढ़ना।

अनैतिक तथा भ्रष्ट साहित्यकी हमारे देशमें भी बाढ़ आ गयी है। सिनेमा, थियेटर, पुस्तकें—जिधर देखिये, भ्रष्ट साहित्यका बोलबाला है। समाचारपत्रोंके द्वारा गंदी बातोंका प्रचार; जितना अधिक-से-अधिक हो सकता है, किया जा रहा है। मिस्टर जार्डन और फिशरने लिखा है कि आजकी सभ्यतामें यदि जूतेकी पालिश भी बेचना हुआ तो उसका कामुक विज्ञापन बनाया जायगा; ऐसी रोगी सभ्यता कबतक चलेगी ?

हम सावधान हो जायँ

मैं पूछता हूँ कि हम यदि अभीसे सावधान न होंगे तो हमारा क्या भविष्य होगा ? आज हम अपने मुखसे अपनी प्रशंसामें समय खो रहे हैं। आज हम जो कहते हैं, उसका पालन नहीं करते। संत तुकारामके शब्दोंमें—

नये बोलों परी पाडिलें वचन

यानी 'मैं कहता नहीं हूँ, पर संतजनो ! आपके वचनोंका पालन करता हूँ।' अपना चरित्र आप ही कहना अनुचित है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

स्वात्मवृत्तं मयेत्थं ते सुगुप्तमपि वर्णितम्।

(श्रीमद्भागवत ७। १३। ४५)

हम जरा बातें करना छोड़कर आगे बढ़ें; पश्चिमकी सभ्यतामें जो गुण हों, उन्हें ग्रहण करें। उन देशोंमें जो महान् पुरुष हों; उनकी हम वन्दना करें; पर अपनी मौलिकता, अपना आधार न छोड़ें। हम देख रहे हैं कि हमारी—हमारी नयी पीढ़ीकी हमारे धर्म, मर्यादा, विचार तथा नैतिकताके प्रति आस्था घटती जा रही है। हमको बाहरी चमक-दमकके सामने ऐसा लगता है कि हम पीछे हैं, हम पिछड़े हुए हैं; पर जरा ध्यानसे देखें तो स्पष्ट प्रकट होगा कि हम अभी बहुत कुछ बचे हुए हैं। हमें पता नहीं कहाँ चले जाते, किस पातालमें उतर जाते, यदि हमारा प्राचीन धर्मका बल हमें सँभाले न रहता। नकल करनेवाला बड़ा खतरनाक होता है। नया मुसल्मान प्याज बहुत खाता है। नयी सभ्यताका हामी अपना सब कुछ खोकर परायी चीज अपनाना चाहता है; पर अभी भी पैर पीछे रखनेका समय है। अपने देशका धर्म, परिवार, पिता-माता तथा गुरुका आदर, सत्य तथा कर्तव्यकी भावना यदि—इतनी चीजें हमने नयी पीढ़ीको न सिखायीं, तो हमारा भविष्य सचमुच अन्धकारमय हो जायगा। हम किसीके प्रति अनादर नहीं प्रकट करते; पर अपने धर्म तथा सभ्यताके प्रति आदरको खोना नहीं चाहते—

यथा तथापि यः पूज्यो यत्र तत्रापि योऽर्चितः।
योऽपि वा सोऽपि वा योऽसौ देवस्तस्मै नमोऽस्तु ते॥

तम्बाकू या धूम्रपान

(लेखक—श्रीरवीन्द्रजी अग्निहोत्री एम्० ए०, बी० टी०)

सिगरेट, बीड़ी, चुरुट, तम्बाकू, हुक्का आदि एक ही चीजके किंचित् परिवर्तित विभिन्न रूप हैं। आधुनिक सभ्य समाजने सिगरेट पीना शिष्टाचारमें सम्मिलित कर लिया है। आधुनिक विज्ञानने जबतक सिगरेटके प्रयोगसे आजकी बहुचर्चित बीमारी 'कैन्सर' की उत्पत्तिका अनुसंधान नहीं किया था, तबतक धूम्रपान-प्रेमी अपने विरोधियोंको दकियानूसी और अशिष्ट कहकर उनका उपहास उड़ाया करते थे। पर 'सिगरेटके सेवनसे कैन्सर होता है' इस अनुसंधानने भी सिगरेटका प्रचार रोकनेमें कोई विशेष सहायता नहीं की। बुद्धिमान् व्यक्ति वही है, जो भेड़-चाल न चलकर विवेक-बुद्धिसे कार्य करता है। आइये, सबसे पहले हम धूम्रपानके इतिहासपर विचार करें।

कहते हैं, अफ्रीकाके जंगली लोग अपनी मूर्खतावश तम्बाकूका प्रयोग करते थे। कदाचित् १५वीं शतीमें इंग्लैंडमें सर वाल्टर रैलेने पहले-पहल पाइपसे तम्बाकू पी। जब उनके सेवकने मुँहसे धुआँ निकलते देखा, तब यह समझकर कि इनके आग लग गयी है, पानीकी एक बाल्टी उनके ऊपर डाल दी। पर इस मनोरञ्जक अन्तके साथ ही धीरे-धीरे इसका चलन बढ़ता गया। हमारी पवित्र आर्यभूमिमें जिस प्रकार अन्य अनेक अवगुण विदेशी लाये, उसी प्रकार १७ वीं शतीमें पुर्तगाली लोग बादशाह अकबरके समय इस अवगुणको यहाँ लाये, जिसका पहले बहुत विरोध किया गया। राजा जहाँगीरने भी राजाज्ञा निकाली कि जो कोई तम्बाकू पिये, उसका मुँह काला करके गधेपर चढ़ाकर नगरमें घुमाया जाय। पर बुराईको घर जल्दी मिल जाता है। अंग्रेजोंको अपने व्यापारसे काम था और इस देशका नाश करना भी उन्हें इष्ट था; अतः इसकी न केवल खुली छुट्टी दे दी गयी, प्रत्युत ढेर-की-ढेर सिगरेट अपने देशसे मँगाकर और मुफ्त बाँट-बाँटकर इसका खूब प्रचार कराया। परिणाम यह हुआ कि आज देशकी बहुसंख्यक जनता किसी-न-किसी रूपमें इसका प्रयोग करती है। अतः हमारे बहुत-से नेता एवं राज्याधिकारी भी इस रोगके रोगी हैं और इसके प्रयोगकी बेरोकटोक आजादी है। इन लोगोंको सम्भवतः यह ज्ञात नहीं कि डाक्टरी पुस्तकोंमें धतूरा, बेलाडोना आदि विषोंकी सूचीमें तम्बाकू भी एक विष माना गया है। इसका प्रयोग हृदय और मस्तिष्कके लिये अत्यन्त हानिकारक बताते हुए लिखा है कि इसके प्रयोगसे 'सिर चकराता है, दिल घबराता है, चेतनाशक्ति मारी जाती है। साधारण तौरपर तम्बाकूका अर्क निकालनेपर इससे एक विष निकलता है, जिसे निकोटीन कहते हैं और एक तेल निकलता है, जिसे निकोटेनीन कहते हैं। इनमेंसे प्रत्येक विषकी एक बूँदसे कुत्ता मर सकता है और दो बूँदसे तो बड़े-से-बड़ा कुत्ता तुरंत मर जाता है।'

मि० बेरू (एक अफ्रीकी यात्री) ने लिखा है कि अफ्रीकाके लोग हुक्केकी नलीके विषसे साँपको मार देते हैं। जिन पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंको हम परम प्रमाण मानते हैं, उनकी खोजसे भी यह महाहानिकारक सिद्ध होती है। अमेरिकाके डा० रैश, डा० वोडवर्ड, प्रो० पॉड, इंग्लैंडके डा० निकल्सन तथा डा० रिचर्ड तम्बाकूके प्रयोगको हानिकारक बताते हुए लिखते हैं कि 'इसके प्रयोग करनेवालेको चक्कर आना, स्मरण-शक्तिका कम होना, उन्माद, फालिज, निद्रानाश, पागलपन, दृष्टिहीनता अथवा दृष्टिनाश, खाँसी, तपेदिक, हृदयकी निर्बलता तथा धड़कन, प्रमेह, पुरुषत्व-हीनता आदि-आदि रोग हो जाते हैं और इन रोगोंका प्रभाव उनकी संतानतकपर पड़ता है।'

तम्बाकू पीनेवालेके किसी-न-किसी अङ्गपर विशेष प्रभाव होकर वह अङ्ग रोगयुक्त हो जाता है। देशमें मोतियाबिंद तथा क्षयरोगकी अधिकताके कारणोंमें एक प्रमुख कारण तम्बाकूका प्रयोग भी है। तम्बाकूका प्रयोग, चाहे वह किसी भी रूपमें हो, करनेवालेका आमाशय खराब हो पाचन-शक्ति मारी जाती है और मन्दाग्निका रोग हो जाता है। बहुत-से पुरुष अपनी पुरुषत्व-शक्तिकी निर्बलताके कारण बड़ी-बड़ी बहुमूल्य औषधोंका सेवन करते हैं; पर तम्बाकूके प्रयोगके कारण उनपर उन औषधोंका प्रभाव कम होता है अथवा नहीं होता। डाक्टरीमें तम्बाकूसे उत्पन्न दृष्टि-हीनताको 'टोबैको-एमेलि-ओपिया' कहते हैं, जिसका स्पष्ट अर्थ है कि इससे दृष्टिहीनताका होना सर्वमान्य सिद्धान्त है। आँख शरीरमें कितनी बहुमूल्य वस्तु है! जिस वस्तुसे

उसे हानि पहुँचे, उसे प्रयोग करना कौन पसंद करेगा।

कुछ वैज्ञानिकोंकी सम्मति हम इस विषयमें ऊपर लिख चुके हैं। इसका सेवन करनेवाले कह सकते हैं कि यह उन वैज्ञानिकोंकी व्यक्तिगत सम्मति है; पर वस्तुतः ऐसा नहीं। उनकी इस सम्मतिका आधार वैज्ञानिक खोज है, जिसके अनुसार तम्बाकूमें निम्नलिखित विष पाये जाते हैं—

(१) प्रुसिक एसिड—यह बड़ा भयंकर विष है, जो चक्कर लाता है, सिरदर्द और मतली उत्पन्न करता है और सबसे अधिक घातक है।

(२) निकोटीन—इसका प्रभाव रुधिरकी नलियों और वृक्कपर पड़ता है, जो 'हाइड्रोसेनिक एसिड' की भाँति अचानक शीघ्र ही जीवनको नष्ट कर देता है। डा० कैलॉगके मतानुसार एक पौंड तम्बाकूमें ३८० ग्रेन यह विष होता है। इस विषकी १।१० ग्रेन मात्रा एक कुत्तेको तीन मिनटमें मार सकती है।

(३) तम्बाकूके पत्ते औटानेसे जो तेल निकलता है, उसकी एक बूँदसे बिल्ली मर सकती है।

(४) कालिडिन—तम्बाकूमें गन्ध उत्पन्न करनेवाला मुख्य पदार्थ है। यह इतना तीव्र विष होता है कि इसकी १।२० ग्रेन मात्रासे मेढक मर जाता है।

(५) कार्बन-मानो-साइड—यह वैसी ही गैस है जैसी अधजले कोयले या ईंधनसे उत्पन्न होती है। यह रुधिरके लाल गोलकोंमें प्रवेश करके रक्तको दूषित कर देती है, जिसका बुरा प्रभाव फेफड़ोंपर पड़ता है। साँस शीघ्र-शीघ्र चलने लगती है, हृदयकी धड़कन तीव्र हो जाती है। इससे आँखों-की पुतली फैल जाती है। यह ठंढा पसीना, शरीरमें ठंढ, मूर्च्छा और पक्षाघात उत्पन्न करती है।

(६) एकोलीन—यह सिगरेटके कागज जलानेसे उत्पन्न होता है। इसका धुआँ स्वभावको चिड़चिड़ा बना देता है, मस्तिष्कके तन्तुओंको हानि पहुँचाता है, स्मरणशक्तिका भी ह्रास करता है और सदाचार-सम्बन्धी मानसिक अधः-पतन करता है।

सारांश यह है कि सहनशक्ति, नियन्त्रणशक्ति, स्मरण-शक्ति, सूक्ष्म शक्ति आदि तम्बाकूके व्यवहारसे निरन्तर कम होती जाती है। अजीर्णता प्रायः बनी रहती है। स्त्रियोंमें बाँझपनकी नींव पड़ती है। यह शारीरिक बढ़ावको रोकती है, व्यभिचारकी ओर प्रवृत्तिको जन्म देती है और आयु कम करती है। राष्ट्रीय दृष्टिसे तो तम्बाकू खानेवाला राष्ट्रकी महान् हानि करता है। प्रथम तो करोड़ों रुपये इससे विदेशको जाते हैं। दूसरे देशकी लाखों बीघा भूमि इसकी खेतीके काममें आकर आवश्यक अन्न उत्पन्न नहीं करती। तीसरे इससे भूमिकी उर्वराशक्ति सर्वदाके लिये कम हो जाती है। लाखों मजदूर बीड़ी आदि बनानेके कारण अन्य उपयोगी काम खेती आदि नहीं कर पाते। हुक्का पीनेवाले घंटों इसी काममें लगा देते हैं। फिर इससे रोगी होकर चिकित्सामें समय और धन नष्ट करते हैं।

इन वैज्ञानिक तथ्योंकी विद्यमानतामें भी धूम्रपान-प्रचारके लिये खुल्लमखुल्ला प्रोपैगैंडा किया जाता है। जिस प्रकार सरकारी संस्था 'इंडियन विटेरिनरी रिसर्च इन्स्टीटयूट, आइजटनगर (बरेली)' के जमाये हुए वनस्पति आयलके परीक्षणोंकी वास्तविकतापर लीपापोती करनेके लिये वनस्पति आयलवालोंने झूठे विज्ञापनोंद्वारा अनेक प्रलोभन देकर अपना रुपया पानीकी तरह बहाकर सद्यः-स्वतन्त्रता-प्राप्त भोली जनताको गुमराह करनेका देशद्रोह किया था और कर रहे हैं, ठीक उसी प्रकार आज आधुनिक विज्ञानके पुष्ट अनुसंधानपर भी पर्दा डालकर धूम्रपानको प्रोत्साहन दिया जा रहा है। धूम्रपानके लिये तरह-तरहके लालच दिये जाते हैं और हमारी लोक-कल्याणेच्छु जनतन्त्र सरकार इसे स्वयं प्रश्रय दे रही है। अस्तु।

इन हानियोंके होते हुए भी जो लोग सिगरेट, बीड़ी, तम्बाकू आदिका प्रयोग छोड़ना नहीं चाहते, उन्हें स्वयं विचार करना चाहिये कि वे स्वयं अपने साथ, अपने परिवारके साथ, अपने देशके साथ कितना बड़ा पाप कर रहे हैं। जो लोग इसकी लत पड़ जानेके कारण विवशता-पूर्वक इसका प्रयोग कर रहे हैं, उनके लिये कुछ उपाय यहाँ लिखे जाते हैं। इस सम्बन्धमें विशेष जानकारी प्राप्त करनेके लिये डा० कुन्दनलाल एम्० डी० (लंदन) कृत 'आरोग्य-शास्त्र' पढ़ें, जिससे स्वास्थ्य तथा भोजनसम्बन्धी सभी आवश्यक जानकारी प्राप्त होगी।

(१) सबसे पहला और मुख्य उपाय इच्छाशक्तिकी दृढ़ता है। ऐसे अनेक उदाहरण विद्यमान हैं कि वर्षोंसे और दिनमें कई बार किसी भी रूपमें तम्बाकूका सेवन करनेवालोंने इच्छाशक्तिकी प्रबलतासे एक बार प्रण करके फिर तम्बाकूका

सेवन नहीं किया। एक अंग्रेज लेखक श्रीएनानग्रीनने अपने अनुभवोंसहित एक विस्तृत लेख इस सम्बन्धमें लिखकर उक्त कथनको पुष्ट किया था।

(२) जब इसकी चाट लगे तब पानीमें नीबू निचोड़कर पीयें।

(३) भोजनके उपरान्त तम्बाकूकी प्रबल माँग होने और इच्छाशक्तिसे न रोक सकनेपर 'सिल्वर नाइट्रेट' की दो बूँदें एक आउंस पानीमें डालकर कुल्ला करें, पीयें नहीं।

(४) चार भाग सौंफ, चार भाग अजवायन, तीन भाग काला नमक तैयार करें। काला नमक पीसकर नीबूके रसमें घोल दें। सौंफ और अजवायनको साफ करके उसीमें डालकर मलें और आगपर भून लें, जिससे अर्क सूखकर अजवायन और सौंफमें लग जाय। जब-जब तम्बाकूकी तलब हो, यही मुँहमें डालें।

(५) नीबू, संतरा और अनारका विशेष सेवन करें।

(६) दूध-घीका विशेष प्रयोग करें।

संक्षिप्त वेद-परिचय

(लेखक—एक धर्मशास्त्र-प्रेमी)

संस्कृत-साहित्यकी शब्द-रचनाकी दृष्टिसे वेदका अर्थ 'ज्ञान' होता है। परंतु इसका प्रयोग साधारणतया इस अर्थमें नहीं किया जाता। हमारे महर्षियोंने अपनी तपस्याके द्वारा जिस 'अभय ज्योति' का परम्परागत शब्दरूप साक्षात्कार किया, वही शब्द-राशि 'वेद' है। वे वेद अनादि हैं और साक्षात् परमात्माके—'वेदो नारायणः साक्षात्' (श्रीमद्भागवत ६।१।४०); 'वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्' (श्रीमद्भागवत ११।३।४३) स्वरूप हैं। महर्षियोंके साक्षात् प्रत्यक्ष-गोचर होनेके कारण इनमें कहीं भी असत्य या अविश्वासके लिये स्थान नहीं है। ये नित्य हैं और अभय ज्योतिके रूपमें अभिव्यक्त होनेके कारण अपौरुषेय कहे जाते हैं।

'वेद अनादि, अपौरुषेय और नित्य हैं तथा उनकी प्रामाणिकता स्वतःसिद्ध है—इस प्रकारका मत आस्तिक सिद्धान्तवाले सभी पौराणिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्तके दार्शनिकोंका है। न्याय और वैशेषिकके दार्शनिकोंने वेदको अपौरुषेय नहीं माना है, पर वे इन्हें परमेश्वर (पुरुषोत्तम) द्वारा निर्मित मानते हैं। इन दोनों शाखाओंके दार्शनिकोंने भी वेदको प्रमाण माना है और उसकी आनुपूर्वी (शब्दोच्चारणक्रम) को सृष्टिके आरम्भसे लेकर अबतक अविच्छिन्न रूपसे प्रवृत्त माना है।

जो वेदको प्रमाण नहीं मानते, वे आस्तिक नहीं कहे जाते*। अतः सभी आस्तिक मतवाले वेदको प्रमाण माननेमें एकमत हैं, केवल अपौरुषेय माननेकी न्याय और वैशेषिक दार्शनिकोंकी भिन्न शैली है। नास्तिक दर्शनवालोंने वेदोंको भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके द्वारा रचा हुआ ग्रन्थ माना है। चार्वाक मतवालोंने तो वेदको निष्क्रिय लोगोंका जीविकाका साधनतक कह डाला है। अतः नास्तिक-मतवादी वेदको न तो अनादि मानते हैं न अपौरुषेय और न नित्य ही और न इनकी प्रामाणिकतामें ही विश्वास करते हैं।

वेद चार हैं

वर्तमान कालमें वेद चार माने जाते हैं। उनके नाम हैं—

१. ऋग्वेद, २. यजुर्वेद, ३. सामवेद और ४. अथर्ववेद†

द्वापरयुगकी समाप्तिके पूर्व वेदोंके उक्त चार विभाग नहीं माने जाते थे। उस समय तो 'ऋक्' 'यजुः' 'साम' इन तीन शब्द-शैलियोंकी संग्रहात्मक एक विशिष्ट अध्ययनीय शब्द-राशि ही वेद कहलाती थी। यहाँ यह कहना भी अप्रासङ्गिक नहीं होगा कि परमपिता परमेश्वरने प्रत्येक कल्पके आरम्भमें सर्वप्रथम ब्रह्माजी (परमेष्ठी प्रजापति) के हृदयमें समस्त वेदोंका प्रादुर्भाव कराया था, जो उनके चारों मुखोंमें सर्वदा विद्यमान रहते हैं। ब्रह्माजीकी ऋषिसंतानोंने आगे चलकर तपस्याके द्वारा इसी शब्द-राशिका साक्षात्कार किया और पठन-पाठनकी प्रणालीसे इनका संरक्षण किया।

* नास्तिको वेदनिन्दकः।

† चरणव्यूह १।३

विश्वमें शब्द-प्रयोगकी तीन ही शैलियाँ होती हैं, जिनकी (१) पद्य, (२) गद्य और (३) गानरूपसे जन-साधारणमें प्रसिद्धि है। पद्यमें अक्षर-संख्या, पाद एवं विरामका निश्चित नियम रहता है। अतः निश्चित अक्षर-संख्या, पाद एवं विरामवाले वेद-मन्त्रोंकी संज्ञा 'ऋक्' है। जिन मन्त्रोंमें छन्दके नियमानुसार अक्षर-संख्या, पाद एवं विराम नहीं हैं, वे गद्यात्मक मन्त्र 'यजुः' कहलाते हैं और जितने मन्त्र गानात्मक हैं—वे मन्त्र 'साम' कहलाते हैं। इन तीन प्रकारकी शैलियोंके आधारपर ही शास्त्र एवं लोकमें वेदके लिये 'त्रयी' शब्दका भी व्यवहार किया जाता है।

वेदका पठन-पाठन करनेका क्रम गुरुमुखसे सुनकर स्वयं अभ्यास करना अबतक चला आता है। आज भी बिना गुरुमुखसे सुने केवल पुस्तकके आधारपर ही मन्त्राभ्यास करना निन्दनीय एवं निष्फल माना जाता है। इस प्रकार वेदके संरक्षण एवं सफलताकी दृष्टिसे गुरुमुखसे सुनने एवं उसे याद करनेका अत्यन्त महत्त्व है। इसी कारण वेदको 'श्रुति' तथा 'अनुश्रव' भी कहते हैं। तदतिरिक्त वेद परिश्रमपूर्वक अभ्यासद्वारा संरक्षणीय है। इस कारण इसका नाम 'आम्नाय' भी है। त्रयी, श्रुति और आम्नाय—ये तीनों शब्द आस्तिक ग्रन्थोंमें वेदके लिये व्यवहारमें लाये जाते हैं—

'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः'　　　　(अमरकोश १।३)

उस समय (द्वापरयुगकी समाप्तिके समय इस रूपमें एक वेदका पढ़ाना और अभ्यास कराना सरल कार्य नहीं था। कलियुगमें मनुष्योंकी शक्तिहीनता और कम आयु होनेकी बातको ध्यानमें रखकर भगवान्‌के अवतार श्रीकृष्णद्वैपायनव्यासजी महाराजने यज्ञानुष्ठानके उपयोगको दृष्टिमें रखकर उस एक वेदके चार विभाग कर दिये और इन चार विभागोंकी चार शिष्योंको शिक्षा दी। ये ही चार विभाग आज-कल ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके नामसे प्रसिद्ध हैं। पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु नामक चार शिष्योंने अपने अधीत वेदोंके संरक्षण एवं प्रसारके लिये अपने भिन्न-भिन्न शाकल आदि शिष्योंको पढ़ाया। उन्हीं शिष्योंके मनोयोग एवं प्रचारके कारण वे शाखाएँ उन्हींके नामसे आजतक प्रसिद्ध हो रही हैं।* यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि शाखासम्बन्धित कोई भी मुनि मन्त्रद्रष्टा ऋषि नहीं है और न वह शाखा उनकी रचना है।

* श्रीमद्भा० प्रथम स्कन्ध, ४ था अध्याय।

कर्मकाण्डमें भिन्न वर्गीकरण

वेदोंका प्रधान लक्ष्य आध्यात्मिक ज्ञान देना ही है, जिससे प्राणीमात्र इस असार संसारके बन्धनोंके कारणोंको समझकर इससे मुक्ति पा सके। अतः वेदमें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड—इन दोनों विषयोंका सर्वाङ्गीण निरूपण किया गया है। वेदोंका प्रारम्भिक भाग कर्मकाण्ड है और वह ज्ञानकाण्डवाले भागसे बहुत अधिक है। कर्मकाण्डमें यज्ञानुष्ठानसम्बन्धी विधि-निषेध आदिका सर्वाङ्गीण विवेचन है। इस भागका प्रधान उपयोग यज्ञानुष्ठानमें होता है। जिन वैदिक विद्वानोंको यज्ञ करानेका यजमानद्वारा अधिकार प्राप्त है, उनको 'ऋत्विक्' कहते हैं। इन ऋत्विकोंके चार भाग हैं—

१. होतृगण,　　२. अध्वर्युगण,　　३. उद्गातृगण और ४. ब्रह्मगण।

इन्हीं चारों गणों या वर्गोंके लिये उपयोगी मन्त्रोंके संग्रहके अनुसार वेद चार हुए हैं। उनका विभाजन निम्न प्रकार किया गया है—

ऋग्वेद–इसमें होतृवर्गके लिये उपयोगी मन्त्रोंका संकलन है। इसका नाम ऋग्वेद इसीलिये पड़ा है कि इसमें 'ऋक्' संज्ञक (पद्यबद्ध) मन्त्रोंकी अधिकता है। इसमें होतृवर्गके उपयोगी गद्यात्मक (यजुः) स्वरूपके कुछ मन्त्र भी हैं।

'तेषां ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था।'
(पूर्वमीमांसादर्शन २।१।३५)

इसकी मन्त्रसंख्या अन्य वेदोंकी अपेक्षा अधिक है। इसके कई मन्त्र अन्य वेदोंमें भी मिलते हैं। सामवेदमें तो ऋग्वेदके मन्त्र ही अधिक हैं, स्वतन्त्र मन्त्र कम हैं।

यजुर्वेद–इसमें यज्ञानुष्ठानके—अध्वर्युवर्गके उपयोगी मन्त्रोंका संकलन है। इसका नाम यजुर्वेद इसीलिये पड़ा है कि इसमें 'गद्यात्मक' मन्त्रोंकी अधिकता है। इसमें कुछ पद्यबद्ध मन्त्र भी हैं, जो अध्वर्युवर्गके उपयोगी हैं—

शेषे यजुःशब्दः।　　　(मीमांसादर्शन २।१।३७)

इसके कुछ मन्त्र अथर्ववेदमें भी पाये जाते हैं। यजुर्वेदके दो विभाग हैं—

१. शुक्ल यजुर्वेद,　　　　२. कृष्ण यजुर्वेद।

सामवेद–इसमें यज्ञानुष्ठानके—उद्‌गातृ-वर्गके उपयोगी मन्त्रोंका संकलन है। इसका नाम सामवेद इसलिये पड़ा है कि इसमें गायन-पद्धतिके निश्चित मन्त्र ही हैं।

'गीतिषु सामाख्या' (मीमांसा० २। १। ३६)

इसके अधिकांश मन्त्र ऋग्वेदमें उपलब्ध होते हैं, कुछ मन्त्र स्वतन्त्र भी हैं।

अथर्ववेद–इसमें यज्ञानुष्ठानके ब्रह्मवर्गके—उपयोगी मन्त्रोंका संकलन है। इस ब्रह्मवर्गका कार्य है यज्ञकी देख-रेख करना, समय-समयपर नियमानुसार निर्देश देना, यज्ञमें ऋत्विजों एवं यजमानके द्वारा कोई भूल हो जाय या कमी रह जाय तो उसका सुधार या प्रायश्चित्त करना। अथर्वका अर्थ है त्रुटियों-को हटाकर ठीक करना या त्रुटिरहित बनाना। अतः इसमें यज्ञसम्बन्धी एवं व्यक्तिसम्बन्धी सुधार या कमी पूर्ति करनेवाले मन्त्र संकलित किये गये हैं। इसमें पद्यात्मक मन्त्रोंके साथ कुछ गद्यात्मक मन्त्र भी उपलब्ध हैं। इस वेदका नामकरण अन्य वेदोंकी भाँति शब्द-शैलीके आधारपर नहीं है, अपितु इसके प्रतिपाद्य विषयके अनुसार है। इस वैदिक शब्द-राशिका प्रचार एवं प्रयोग मुख्यतः अथर्व नामके महर्षिद्वारा किया गया, इसलिये इसका नाम अथर्ववेद रखा गया—ऐसा भी उल्लेख मिलता है।

कुछ मन्त्र सभी वेदोंमें या एक-दो वेदोंमें समानरूपसे मिलते हैं; जिसका कारण यह है कि चारों वेदोंका विभाजन यज्ञानुष्ठानके—ऋत्विक्‌जनोंके उपयोगी होनेके आधारपर किया गया है। अतः विभिन्न यज्ञावसरोंपर विभिन्न वर्गोंके ऋत्विजों-के लिये उपयोगी मन्त्रोंका उस वेदमें आ जाना स्वाभाविक है, भले ही वह मन्त्र दूसरे ऋत्विक्‌के लिये भी अन्य अवसरपर उपयोगी होनेके कारण अन्यत्र भी मिलता हो।

वेदोंका विभाजन और शाखाविस्तार

आधुनिक विचारधाराके अनुसार चारों वेदोंकी शब्द-राशिके वर्गीकरणमें तीन दृष्टियाँ पायी जाती हैं—

१. याज्ञिक दृष्टि, २. प्रायोगिक दृष्टि और ३. साहित्यिक दृष्टि।

याज्ञिक दृष्टि–इसके अनुसार वेदोक्त यज्ञोंका अनुष्ठान ही वेदके शब्दोंका मुख्य उपयोग माना गया है। सृष्टिके आरम्भसे ही इसके करनेमें साधारणतया मन्त्रोच्चारणकी शैली, मन्त्राक्षर एवं कर्मविधिमें विविधता चली आयी है। इस विविधताके कारण ही वेदोंका शाखा-विस्तार हुआ है। प्रत्येक वेदकी अनेक शाखाएँ बतायी गयी हैं। यथा—ऋग्वेदकी २१ शाखाएँ यजुर्वेदकी १०१ शाखाएँ सामवेदकी १००० शाखाएँ और अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ—इस प्रकार कुल ११३१ शाखाएँ हैं। इस संख्याका उल्लेख महर्षि पतञ्जलिने अपने महाभाष्यमें भी किया है। अन्य वेदोंकी अपेक्षा ऋग्वेदमें मन्त्र-संख्या अधिक है। फिर भी इसका शाखा-विस्तार यजुर्वेद और सामवेदकी अपेक्षा कम है। इसका कारण यह है कि ऋग्वेदमें देवताओंके मन्त्रोंका भंडार है। स्तुति-वाक्योंकी अपेक्षा कर्मप्रयोगकी शैलीमें भिन्नता होनी स्वाभाविक है। अतः ऋग्वेदकी अपेक्षा यजुर्वेदकी शाखाएँ अधिक हैं। गायन-शैलीकी शाखाएँ सर्वाधिक होना आश्चर्यजनक नहीं है। अतः सामवेदकी १००० शाखाएँ बतायी गयी हैं। फलतः कोई भी वेद, शाखा-विस्तारके कारण, एक दूसरेसे उपयोगिता, श्रद्धा एवं महत्त्वमें न्यूनाधिक नहीं है। चारोंका महत्त्व समान है।

उपर्युक्त ११३१ शाखाओंमेंसे वर्तमानमें केवल १२ शाखाएँ ही मूल ग्रन्थोंके रूपमें उपलब्ध हैं। वे ये हैं—

१. ऋग्वेदकी २१ शाखाओंमेंसे केवल २ शाखाओंके ही ग्रन्थ प्राप्त हैं—

१. शाकल शाखा, २. शाङ्खायन शाखा।

२. यजुर्वेदमें कृष्ण यजुर्वेदकी ८६ शाखाओंमेंसे केवल ४ शाखाओंके ग्रन्थ ही प्राप्त हैं—

१. तैत्तिरीय शाखा, २. मैत्रायणीय शाखा,

३. कण्ठ शाखा और ४. कपिष्ठल शाखा।

शुक्ल यजुर्वेदकी १५ शाखाओंमेंसे केवल २ शाखाओंके ही ग्रन्थ प्राप्त हैं—

१. माध्यन्दिनीय शाखा, २. काण्व शाखा।

३. सामवेदकी १००० शाखाओंमेंसे केवल २ शाखाओं-के ही ग्रन्थ प्राप्त हैं—

१. कौथुम शाखा, २. जैमिनीय शाखा।

४. अथर्ववेदकी ९ शाखाओंमेंसे केवल २ शाखाओंके ही ग्रन्थ प्राप्त हैं—

१. शौनक शाखा, २. पैंप्पलाद शाखा।

उपर्युक्त १२ शाखाओंमेंसे केवल ६ शाखाओंकी अध्ययन-शैली प्राप्त है, जो नीचे दी जाती है—

ऋग्वेदमें केवल शाकल शाखा, यजुर्वेद (कृष्ण) में केवल तैत्तिरीय शाखा और यजुर्वेद (शुक्ल) में केवल माध्यन्दिनीय शाखा और काण्व शाखा, सामवेदमें केवल कौथुम शाखा, अथर्ववेदमें केवल शौनक शाखा। यह कहना भी अनुपयुक्त नहीं होगा कि अन्य शाखाओंके कुछ और भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं। किंतु उनसे उस शाखाका पूरा परिचय नहीं मिल सकता एवं बहुत-सी शाखाओंके तो नाम भी उपलब्ध नहीं हैं।

प्रायोगिक दृष्टि—इसके अनुसार प्रत्येक शाखाके २ भाग बताये गये हैं—एक मन्त्र-भाग और दूसरा ब्राह्मण-भाग।

मन्त्र—मन्त्र-भाग उस शब्द-राशिको कहते हैं, जो यज्ञमें साक्षात्‌रूपसे प्रयोगमें आती है।

ब्राह्मण—ब्राह्मण शब्दसे उस शब्द-राशिका संकेत है, जिसमें विधि (आज्ञाबोधक शब्द)—कथा, आख्यायिका एवं स्तुतिद्वारा यज्ञ करानेकी प्रवृत्ति उत्पन्न कराना, यज्ञानुष्ठान करनेकी पद्धति बताना, उसकी उपपत्ति और विवेचनके साथ उसके रहस्यका निरूपण करना है। इस प्रायोगिक दृष्टिके २ विभाजनोंमें साहित्यिक दृष्टिके ४ विभाजनोंका समावेश हो जाता है।

साहित्यिक दृष्टि—इसके अनुसार प्रत्येक शाखाकी वैदिक शब्द-राशिका वर्गीकरण—१. संहिता, २. ब्राह्मण, ३. आरण्यक, ४. उपनिषद्—इन चारों भागोंमें है।

संहिता—वेदका जो भाग प्रतिदिन विशेषतः अध्ययनीय है, उसे संहिता कहते हैं। इस शब्द-राशिका उपयोग श्रौत एवं स्मार्त दोनों प्रकारके यज्ञानुष्ठानोंमें होता है। प्रत्येक वेदकी अलग-अलग शाखाकी एक-एक संहिता है। वेदोंके अनुसार उनको—

१. ऋग्वेदसंहिता, २. यजुर्वेदसंहिता, ३. सामवेदसंहिता और ४. अथर्ववेदसंहिता कहा जाता है। इन संहिताओंके पाठमें उनके अक्षर, वर्ण, स्वर आदिका किञ्चिन्मात्र भी उलट-पुलट न होने पाये—इसलिये प्राचीन अध्ययन-अध्यापनके सम्प्रदायमें—

१. क्रम, २. पद, ३. जटा, ४. माला, ५. शिखा, ६. रेखा, ७. ध्वज, ८. दण्ड, ९. रथ और १०. घन—ये पाठ प्रचलित हैं।*

ब्राह्मण—वह वेद-भाग, जिसमें विशेषतया यज्ञानुष्ठानकी पद्धतिके साथ-ही-साथ तदुपयोगी प्रवृत्तिका उद्बोधन कराना, उसको दृढ़ करना तथा उसके द्वारा फल-प्राप्ति आदिका निरूपण, विधि तथा अर्थवाद है, ब्राह्मण कहा जाता है।

आरण्यक—वह वेद-भाग, जिसमें यज्ञानुष्ठान-पद्धति, याज्ञिक मन्त्र, पदार्थ एवं फल आदिमें आध्यात्मिकताका संकेत दिया गया है, आरण्यक कहलाता है। यह भाग मनुष्यको आध्यात्मिकताकी ओर झुकाकर सांसारिक बन्धनोंसे ऊपर उठाता है। अतः इसका अध्ययन भी संसार-त्यागकी भावनाके कारण अरण्य (जंगल) में किया जाता है। इसीलिये इसका नाम आरण्यक प्रसिद्ध हुआ है।

उपनिषद्—वह वेदभाग, जिसमें विशुद्ध रीतिसे आध्यात्मिक चिन्तनको ही प्रधानता दी गयी है और फल-सम्बन्धी दृढ़ानुरागको शिथिल करना सुझाया गया है, उपनिषद् कहलाता है। वेदका यह भाग उसकी सभी शाखाओंमें है। परंतु यह बात स्पष्टरूपसे समझ लेनी चाहिये कि वर्तमानमें उपनिषद्‌के नामसे जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमेंसे कुछ उपनिषदों (ईशावास्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, छान्दोग्य आदि) को छोड़कर शेष उपनिषद् उसी रूपमें किसी-न-किसी शाखाके उपनिषद् भागमें उपलब्ध हों—ऐसी बात नहीं है। शाखागत उपनिषदोंमेंसे कुछ अंशको सामयिक, सामाजिक या वैयक्तिक आवश्यकताके आधारपर उपनिषद् संज्ञा दे दी गयी है। इसीलिये इनकी संख्या एवं उपलब्धियोंमें विविधता मिलती है। वेदोंमें जो उपनिषद्

* जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥
(चरणव्यूह सू० ६ तथा उसका भाष्य)

भाग हैं, वे अपनी शाखाओंमें सर्वथा अक्षुण्ण हैं। उनको तथा उन्हीं शाखाओंके नामसे जो उपनिषद् संज्ञाके ग्रन्थ उपलब्ध हैं, दोनोंको एक नहीं समझना चाहिये। उपलब्ध उपनिषद्-ग्रन्थोंकी संख्यामेंसे ईशादि १० उपनिषद् तो सर्वमान्य हैं। इनके अतिरिक्त ५ और उपनिषद् (श्वेताश्वतरादि) जिनपर आचार्योंकी टीका तथा प्रमाण आदि मिलते हैं, सर्वसम्मत कहे जाते हैं। इन १५ के अतिरिक्त जो उपनिषद् उपलब्ध हैं, उनकी शब्द-गत ओजस्विता, प्रतिपादनशैली आदिकी विभिन्नता होनेपर भी यह अवश्य कहा जा सकता है कि इनका प्रतिपादन ब्रह्म या आत्मतत्त्व-निश्चयपूर्वक अपौरुषेय, नित्य, स्वतःप्रमाण वेदनामक शब्द-राशिसे सम्बद्ध है।

ऋषि, छन्द और देवता

वेदके प्रत्येक मन्त्रमें किसी-न-किसी ऋषि, छन्द एवं देवताका उल्लेख होना आवश्यक है। कहीं-कहीं एक ही मन्त्रमें एकसे अधिक ऋषि, छन्द और देवताके नाम मिलते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि एक ही मन्त्रमें एकसे अधिक ऋषि, छन्द और देवता क्यों हैं, यह स्पष्ट कर दिया जाय। इसका विवेचन निम्न-पंक्तियोंमें किया जाता है—

ऋषि—वह व्यक्ति है, जिसने मन्त्रके स्वरूपको यथार्थ-रूपमें समझा है। यथार्थ ज्ञान—

१. परम्पराके मूल पुरुष होनेसे,

२. उस तत्त्वके साक्षात् दर्शनसे,

३. श्रद्धापूर्वक प्रयोगसे और—

४. इच्छित (अभिलषित) पूर्ण सफलतासे होता है, अतएव इन्हीं चार कारणोंसे मन्त्रसम्बन्धित ऋषियोंका निर्देश ग्रन्थोंमें मिलता है। जैसे—

१. कल्पके आदिमें सर्वप्रथम इस अनादि वैदिक शब्द-राशिका प्रथम उपदेश ब्रह्माजीके हृदयमें हुआ और ब्रह्माजीसे परम्परागत अध्ययन-अध्यापन होता रहा, जिसका निर्देश 'वंश ब्राह्मण आदि' में उपलब्ध होता है। अतः समस्त वेदकी परम्पराके मूल पुरुष ब्रह्मा (ऋषि) हैं। इनका स्मरण परमेष्ठी प्रजापति ऋषिके रूपमें किया जाता है।

२. इन्हीं परमेष्ठी प्रजापतिकी परम्पराकी वैदिक शब्द-राशिके किसी अंशके शब्द-तत्त्वका जिस ऋषिने अपनी तपश्चर्याके द्वारा किसी विशेष अवसरपर प्रत्यक्ष दर्शन किया, वह भी उस मन्त्रका ऋषि कहलाया। उस ऋषिका यह ऋषित्व शब्द-तत्त्व-साक्षात्कारके होनेके कारण माना गया है। इस प्रकार एक ही मन्त्रका शब्द-तत्त्व-साक्षात्कार अनेक ऋषियोंको भिन्न-भिन्न रूपसे या सामूहिक रूपसे हुआ था। अतः वे सभी उस मन्त्रके ऋषि माने गये हैं।

३. कल्प-ग्रन्थोंके निर्देशोंमें ऐसे व्यक्तियोंको भी ऋषि कहा गया है, जिन्होंने उस मन्त्र या कर्मका प्रयोग अति श्रद्धापूर्वक किया है।

४. वैदिक ग्रन्थों—विशेषतया पुराण-ग्रन्थोंके मननसे यह भी पता लगता है कि जिन व्यक्तियोंने किसी मन्त्रका एक विशेष प्रकारका प्रयोग करके सफलता प्राप्त की है, वे भी उस मन्त्रके ऋषि माने गये हैं।

उक्त निर्देशोंको ध्यानमें रखनेके साथ यह भी समझ लेना चाहिये कि एक ही मन्त्रके उक्त चारों प्रकारके या एक ही प्रकारके भिन्न-भिन्न व्यक्ति ऋषि हुए हैं। फलतः एक मन्त्रके अनेक ऋषि होनेमें परस्पर कोई विरोध नहीं है; क्योंकि मन्त्र ऋषियोंकी रचना या अनुभूतिसे सम्बन्ध नहीं रखता, अपितु ऋषि ही उस मन्त्रसे बहिरङ्ग रूपसे सम्बद्ध व्यक्ति हैं।

छन्द—मन्त्रसे सम्बन्धित अक्षर, पाद, विरामकी विशेषताके आधारपर दी गयी जो संज्ञा है, वही छन्द है। एक ही पदार्थकी संज्ञा विभिन्न सिद्धान्त या व्यक्तिके विश्लेषणके भावसे नाना प्रकारकी हो सकती है। अतः एक ही मन्त्रके भिन्न नामके छन्द शास्त्रोंमें पाये जाते हैं। किसी भी संज्ञाका नियमन उसके तत्त्वज्ञ आप्त व्यक्तिके द्वारा ही होता है। अतः कात्यायन, शौनक, पिङ्गल आदि छन्दः-शास्त्रके आचार्योंकी एवं सर्वानुक्रमणीकारोंकी उक्तियाँ ही इस सम्बन्धमें मान्य होती हैं। इसलिये एक मन्त्रमें भिन्न नामोंके छन्दोंके मिलनेसे भ्रम नहीं होना चाहिये।

देवता—मन्त्रोंके अक्षर किसी पदार्थ या व्यक्तिके सम्बन्धमें कुछ कहते हैं। यह कथन जिस व्यक्ति या पदार्थके निमित्त होता है, वही उस मन्त्रका देवता होता है। परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि कौन मन्त्र किस व्यक्ति या

पदार्थके लिये कब और कैसे प्रयोग किया जाय, इसका निर्णय वेदका ब्राह्मण-भाग या तत्त्वज्ञ ऋषियोंके शास्त्र-वचन ही करते हैं। एक ही मन्त्रका प्रयोग कई यज्ञीय अवसरों तथा कई कामनाओंके लिये मिलता है। ऐसी स्थितिमें उस एक ही मन्त्रके अनेक देवता बताये जाते हैं। अतः उन निर्देशोंके आधारपर ही कोई पदार्थ या व्यक्ति 'देवता' कहा जाता है। मन्त्रके द्वारा जो प्रार्थना की गयी है, उसकी पूर्ति करनेकी क्षमता उस देवतामें रहती है। लौकिक व्यक्ति या पदार्थ ही जहाँ देवता हैं, वहाँ वस्तुतः वह दृश्य जड-पदार्थ या अक्षम व्यक्ति देवता नहीं है। अपितु उसमें अन्तर्हित एक प्रभु-शक्तिसम्पन्न देवता-तत्त्व है, जिससे हम प्रार्थना करते हैं। यही बात 'अभिमानिव्यपदेश' शब्दसे शास्त्रोंमें स्पष्ट की गयी है। लौकिक पदार्थ या व्यक्तिका अधिष्ठाता देवता-तत्त्व मन्त्रात्मक शब्द-तत्त्वसे अभिन्न है, यह मीमांसादर्शनका विचार है। वेदान्त शास्त्रमें मन्त्रद्वारा प्रतिपादित देवता-तत्त्वको शरीरधारी, चेतन और अतीन्द्रिय कहा गया है। पुराणोंमें कुछ देवताओंके स्थान, चरित्र, इतिहास आदिका वर्णन करके भारतीय संस्कृतिके इस देवता-तत्त्वके प्रभुत्वको हृदयंगम कराया गया है। निष्कर्ष यही है कि इच्छाकी पूर्ति कर सकनेवाले अतीन्द्रिय मन्त्रद्वारा प्रतिपादित तत्त्वको देवता कहते हैं और उस देवताका संकेत शास्त्र-वचनोंसे ही मिलता है, अतः वचनोंके अनुसार अवसर-भेदसे एक मन्त्रके विभिन्न देवता हो सकते हैं।

वेदोंकी जानकारीके लिये व्याकरण और कल्पसूत्र

वैदिक शब्दोंके अर्थ एवं उनके प्रयोगकी पूरी जानकारीके लिये वेदाङ्ग आदि शास्त्रोंकी व्यवस्था मानी गयी है। उनमें वैदिक स्वर और शब्दोंकी व्यवस्थाके लिये शिक्षा और व्याकरण दोनों अङ्गोंके वेदके उपयोगके लिये अलग-अलग 'प्रातिशाख्य' हैं, जिन्हें वैदिक व्याकरण भी कहते हैं। प्रयोग-पद्धतिकी सुव्यवस्थाके लिये कल्पशास्त्र माना जाता है। इसके तीन भेद हैं—

१. श्रौतसूत्र, २. गृह्यसूत्र और ३. धर्मसूत्र।

इनका स्पष्टीकरण निम्न-प्रकार है—

श्रौतसूत्र—इसमें श्रौत अग्नि (आहवनीय, गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि) में होनेवाले यज्ञसम्बन्धी विषयोंका स्पष्ट निरूपण किया गया है।

गृह्यसूत्र—इसमें गृह्य (औपासन) अग्निमें होनेवाले कर्मों एवं उपनयन, विवाह आदि संस्कारोंका निरूपण किया गया है।

धर्मसूत्र—इसमें वर्ण तथा आश्रमसम्बन्धी धर्म, आचार, व्यवहार आदिका निरूपण है। उपर्युक्त प्रकारसे प्रत्येक शाखाके लिये अलग-अलग व्याकरण और कल्पसूत्र हैं, जिससे उस शाखाका पूरा ज्ञान हो जाता है और कर्मानुष्ठानमें सुविधा होती है।

इस बातको भी ध्यानमें रखना चाहिये कि यथार्थमें ज्ञानस्वरूप होते हुए भी वेद कोई वेदान्त-सूत्रकी तरह केवल दार्शनिक ग्रन्थ नहीं है, जहाँ केवल आध्यात्मिक चिन्तनका ही समावेश हो। ज्ञान-भंडारमें लौकिक और अलौकिक सभी विषयोंका समावेश रहता है और साक्षात् या परम्परासे ये सभी विषय परम तत्त्वकी प्राप्तिमें सहायक होते हैं। यद्यपि किसी दार्शनिक विषयका साङ्गोपाङ्ग विचार वेदमें किसी एक स्थानपर नहीं मिलता, फिर भी छोटे-से-छोटे तथा बड़े-से-बड़े तत्त्वोंके स्वरूपका साक्षात् दर्शन ऋषियोंको हुआ था और वे सब अनुभव वेदमें व्यक्त रूपसे किसी-न-किसी स्थानपर वर्णित हैं। उनमें लौकिक और अलौकिक सभी बातें हैं। स्थूलतम तथा सूक्ष्मतम रूपसे भिन्न-भिन्न तत्त्वोंका परिचय वेदके अध्ययनसे प्राप्त होता है। अतः वेदके सम्बन्धमें यह नहीं कहा जा सकता कि वेदका एक ही प्रतिपाद्य विषय है या एक ही दर्शन है या एक ही मन्तव्य है। यह तो साक्षात् प्राप्त ज्ञानके स्वरूपोंका शब्दभंडार है। इसी शब्द-राशिके तत्त्वोंको निकालकर आचार्योंने अपनी-अपनी अनुभूति, दृष्टि एवं गुरु-परम्पराके आधारपर विभिन्न दर्शनों तथा दार्शनिक प्रस्थानों (मौलिक दृष्टिसे सुविचारित मतों) का संचयन किया है।

वेदोंको समझनेके लिये आधुनिक अनुवाद उपयुक्त नहीं

वेदोंमें क्या है और उनके शब्दोंका क्या अर्थ है, यह जाननेकी उत्कण्ठा सर्वदासे चली आयी है। इसके समाधानके लिये कई भाष्य, व्याख्याएँ वेदोंकी बन चुकी हैं और बनती जा रही हैं। परंतु यहाँ यह स्पष्ट कह देना आवश्यक है कि वेदमन्त्र किसी एक ही अर्थमें सीमित नहीं हैं, प्रत्येक

मन्त्रकी व्याख्या अनेक प्रकारसे अधियज्ञ, अधिदैव, अध्यात्म आदि भेदसे की जा सकती है और प्राचीन ग्रन्थोंमें भी इसका संकेत मिलता है। पर इस समय वैदिक साहित्यके समस्त ग्रन्थोंकी एकवाक्यता और मर्यादा रखते हुए किसी वेदका आदिसे अन्ततक भाष्य केवल याज्ञिकपद्धतिके ही 'भट्टभास्कर', 'वेंकटमाधव', 'सायण', 'महीधर' आदि आचार्योंके मिलते हैं। याज्ञिकपद्धतिको छोड़कर अन्य किसी भी दृष्टिकी पूरी व्याख्या जो समस्त वैदिक वाङ्मयकी उक्तियोंको सार्थक एवं सुव्यवस्थित कर सकती हो, उपलब्ध नहीं है। आजकल जो अंगरेजी, हिंदी आदि भाषाओंमें अनुवाद मिलते हैं, उनके आधारपर वेदका वास्तविक अर्थ या रहस्य समझना सम्भव नहीं है; क्योंकि वेदार्थ समझनेमें एक विशेष क्षमताकी आवश्यकता है। वह क्षमता संस्कृत भाषा, वेदाङ्ग और प्राचीन साम्प्रदायिक वैदिक ग्रन्थोंके अध्ययनसे ही प्राप्त हो सकती है। इसके बिना किया हुआ और समझा हुआ अर्थ वेदकी मर्यादापर आघात ही पहुँचाता है। अतः वेदका वास्तविक अर्थ जाननेके लिये वेदके पूरे भाग, वेदाङ्ग एवं प्राचीन सम्प्रदायके ग्रन्थोंको ही श्रम तथा परम श्रद्धासे पढ़ने-सुननेका प्रयत्न करना चाहिये। इसीके साथ-साथ वैदिक सदाचरण और तपकी भी आवश्यकता है। सदाचरण तथा तपके द्वारा विशुद्ध अन्तःकरणमें ही वेदार्थका प्रकाश सम्भव है।

संत-समागम

संत-समागम ही सच्चा धन।
उनका दर्शन, उनका मिलना, उनकी वचनावलि सुखकारी ॥
कञ्चन, रजत, रत्न, मुक्तावलिसे हो भरी अनेक अटारी।
अन्य सकल धन-जन्य क्षणिक सुख—आज हरी कल सूखी डारी ॥
धनका सुख कब हुआ सनातन ?

शरद्-निशाके धन तारागण, रजत-ज्योत्स्ना जिनसे झरती।
बना मुकुट-मणि चन्द्र चमकता, झलमल करते अम्बर-धरती।
उदयाचलपर किंतु उषा की जैसे पहली किरण उतरती।
कहाँ निशा, उडुगण, मृग-लाञ्छन ?

फूलोंका धन मादक सौरभ, अलिकुल मँडराया करता है।
रसिक समीर जिसे ले-लेकर सुरभित निज काया करता है।
वही पवन पर जब निदाघमें लिये लपट आया करता है।
कहाँ प्रसून, कहाँ अलि-गुञ्जन ?

क्रारूँ नृपति लीडिया-वासी, जग-विश्रुत धन के अभिमानी।
अपरिसीम सुख-सागर, जिसका सूख सकेगा कभी न पानी।
उनका चरण पखार रहा है; मान रही थी मति भ्रम-सानी।
नहीं देखती वड़व-हुताशन ?

सभी लोग वन्दन करते थे, सभी लोग थे शीश झुकाते।
कविगण अचरजमें भर-भरकर गीत प्रशंसाके थे गाते।
एक पुरुष पर हुआ उपस्थित, नहीं थके नृप उसे बुलाते।
वे थे ज्ञान-दिवाकर सोलन ॥

पूछा नृपने, जब मुनि आये अतिशय अनुनय-विनय श्रवणकर।
'किसका आज जगत्में सुखका सिंहासन है मुझसे ऊपर ?'
'सुखी वही, जो सुखी अन्ततक !' गूँज उठा गम्भीर ऊर्ज स्वर।
हुई प्रकट नृपके तन सिहरन ॥

कुछ वर्षोंके बाद आक्रमणकारीसे छिड़ गयी लड़ाई।
बंदी क्रारूँको जीवित ही बैठा चिता गयी धधकायी।
ज्वालाओंको देख लपकते याद तपस्वीकी ही आयी।
लगे बुलाने 'सोलन ! सोलन !'

विजयी नृपति पूज्य सोलन थे, सुनकर उनका नामोच्चारण।
पूछा उनको 'भला पुकारा क्रारूँने कैसे किस कारण ?'
सुनकर सारी बात दे दिया क्षमा-दान उसको फिर तत्क्षण।
उभय परस्पर गये मित्र बन ॥

कथा पुरातन; पर उसका संदेश सदा जीवित, नूतन है।
रहता स्थिर अन्तिम क्षणतक सुख जो, उसका आधार न धन है।
धन बिपत्ति भी ला सकता है, पर परित्राता संत-मिलन है।
संत-मिलन स्थायी सुख-साधन ॥

—माधवशरण एम्० ए०, एल्-एल्० बी०

पढ़ो, समझो और करो*

(१)

धन पराव बिष तें बिष भारी

'दूसरोंके धनको घोर विषके समान समझना चाहिये'—आजके युगमें इस बातको समझने तथा व्यवहारमें लानेवाले बहुत ही थोड़े रह गये हैं; तथापि इस पुण्यभूमिमें अब भी इस विषयमें हमारी आप-बीती एक घटना इस प्रकार है—

गत ३०–८–६२ को मेरी माता एवं मेरी बहन एक स्थानीय औषधालयसे वापस घर लौट रही थीं। मेरी बहन एक सोनेका गुलेबंद हार पहने थी। उक्त हार रास्तेमें कहीं गिर गया। घर आनेपर विदित हुआ कि हार कहीं गिर गया है। फिर तो पिताजी, माताजी, मैं तथा बहनने सारा रास्ता खोज डाला। पर कहीं कुछ पता न चला। दिनके लगभग दस बजे हार गिरा था। बहुत खोजनेके बाद हमलोग निराश हो गये। पिताजी, यह जानकर कि सोनेका हार औरतोंके सुहागका प्रतीक है, अधिक चिन्तित थे। वे दौड़े-दौड़े नूतन प्रेस भुसावलके कार्यालयमें गये और पाँच हजार नोटिस उन्होंने पूरे शहरमें बँटवाये। नोटिसमें हार लानेवालेको सौ रुपयेका इनाम घोषित किया गया था।

उसी दिन एक सज्जन सायंकाल ७ बजे हमारे नोटिसमें दिये पतेके अनुसार हमारे घर पधारे और उन्होंने सूचित किया कि हार मेरे भाईको मिला है, आपलोग चलें और ले आयें।

हमलोग बड़ी उत्सुकतासे उस सज्जनके घर गये और हार ले आये। सौ रुपया इनामकी रकम (यद्यपि वे सज्जन लेनेसे इन्कार कर रहे थे, फिर भी हमलोगोंने बहुत दबाकर) उन्हें लेनेको बाध्य किया। उन सज्जनकी ईमानदारी तथा सत्य-निष्ठा देखकर सभी लोग अवाक् रह गये। —श्रवणकुमार अग्रवाल, भुसावल

(२)

रामरक्षास्तोत्र और हनुमानचालीसा

मई ६३ के 'कल्याण' में 'रामरक्षास्तोत्रसे लाभ' पर मैंने लिखा था। इसकी सिद्धिकी विधिके बारेमें पंजाबसे लेकर बंगालतक तथा हिमालयसे लेकर विन्ध्याचलतकके हिंदीभाषाभाषी अनेक भाई-बहिनोंने पत्रोंकी झड़ी लगा दी है। इन पत्रोंके पढ़नेसे उनमें 'कल्याण' पढ़नेका जो चाव तथा आध्यात्मिक प्रयोगका जो उत्साह देखनेको मिला, उससे मुझ नौसिखुआकी 'कल्याण' में रुचि और बढ़ गयी है। उन प्रेमी पाठकोंके हितार्थ स्तोत्र एवं पाठकी सिद्धिका कुछ अनुभव देकर उनसे अलग-अलग पत्र न लिखनेके लिये मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ।

'रामरक्षास्तोत्र' जैसा 'कल्याण' में निकला था, उसकी झटसे मैंने एक साफ कागजपर नकल कर ली थी। फिर नित्य प्रातः स्नान, संध्या, तर्पण तथा भगवान् रामका पञ्च देवताके साथ पूजन करनेके बाद उस स्तोत्रका ग्यारह बार जोरसे पाठ करता था। नवरात्रके पहलेतक वह पाठ एकदम शुद्ध-शुद्ध कण्ठस्थ हो गया, जिससे नवरात्र चढ़ते संकल्प आदि यथाविधि करके मैं लगातार नौ दिनोंतक एक-सा पाठ करता रहा। उस समय मैं यथासम्भव यम-नियमपूर्वक रहता था। सबसे बढ़कर मेरी दीनता थी कि कोई दूसरा उपाय मेरे लिये नहीं था। ऐसा करनेपर मैंने मान लिया कि मुझे स्तोत्र सिद्ध हो गया; क्योंकि मेरी दशामें पूर्ण परिवर्तन हो चुका था। जिस वृद्धा मातापर

---

* इस स्तम्भमें जो घटनाएँ प्रकाशित की जाती हैं, वे सब अपनी जानमें सच्ची समझकर ही छापी जाती हैं। कुछकी तो पहले जाँच भी की जाती है। इतनेपर भी सम्भव है, किसीमें पूर्ण सत्य न हो। पर इसे जाननेका हमारे पास साधन भी नहीं है। अतः कहीं ऐसी कोई घटना छप जाय तो पाठकगण क्षमा करें। दूसरा निवेदन है—घटना लिखकर भेजनेवाले महानुभावोंसे। अधिकतर घटनाएँ दैवी चमत्कारोंकी आती हैं, वे अवश्य ही अपना बहुत महत्त्व रखती हैं। तथापि ऐसी घटनाएँ भी आनी चाहिये; जिनमें सत्य, त्याग, सेवा, मानवधर्म, सद्व्यवहार आदि सम्बन्धी प्रेरणाप्रद सच्ची बातें हों—सम्पादक

मैंने इसका प्रयोग किया, वे भी दवासे दूर भागती हैं। एक रामनामकी ओषधिसे काम लेती हैं, इसीसे उनपर मेरा प्रयोग पूर्ण सफल रहा। पूर्ण दीनता आनेपर ही दीनबन्धुका बन्धुत्व प्राप्त होता है, ऐसा मेरा विश्वास है। ऐसे दीनके लिये 'रामरक्षास्तोत्र' हो तो फिर कहना ही क्या। पर कितने ही पाठक ऐसे होंगे, जिन्हें संस्कृतका उच्चारण कठिन मालूम पड़ता है। उनके लिये 'हनुमानचालीसा' का पाठ ही उत्तम होगा। नीचे उसकी सिद्धिके प्रयोगका अपना अनुभव दे रहा हूँ।

'१९५९ ई० में मेरी कुछ सिकमी जमीनकी मकई कुछ मुसल्मान भाइयोंने जबरदस्ती काट ली। स्कूलसे जब गाँव पहुँचा तो लोग धिक्कारने लगे। पत्नी-ने भी पूजा-पाठके समय ताना दिया। मैं रो पड़ा। इसी समय मनमें आया कि आजीवन जिस पथसे चला हूँ, उसी पथसे मैं मुसल्मान भाइयोंका प्रतीकार करूँगा। शेष खेतको अपने काटूँगा।' इसके लिये हनुमान-चालीसाका शतवार पाठ किया। जलपान करके खेत-की ओर चला। पत्नी घबरायी। मेरे भाईको तथा एक मजदूरको साथ कर दिया। मैं बराबर हनुमानचालीसा बड़बड़ाता हुआ ग्यारह बजे खेतपर पहुँचा। कहीं कोई नहीं था। आँखें उठायीं तो सामने हनुमान्‌जीकी एक विशाल मूर्ति एक पैर दूसरी जाँघपर टेके सुरसाके सामनेवाले विशाल रूपमें दिखायी दी। मैंने एक विचित्र स्फूर्ति अनुभव की। खचाखच अपने हाथों मकई काटने लगा। पर मेरा भाई और मजदूर भयभीत चारों ओर घूम-घूमकर देखने लगे। वे बीच-बीचमें काटते भी जाते थे। लगभग तीन घंटेतक हमलोग काटते रहे; मैं बड़े उत्साहमें था और बार-बार उनसे कह रहा था कि देखो सामने हनुमान्‌जी स्वयं हमारी रक्षामें हैं। पर वे देख नहीं रहे थे और 'बोझ ढो लेंगे' कहकर वे मुझे खेतपरसे हट जानेके लिये विनय करने लगे; क्योंकि कुछ शोर-गुल बगलके मकई-खेतमें होने लगा था। मैंने उनसे कहा कि 'जबतक मैं हूँ, बोझ ढोकर ले जाओ, नहीं तो आपत्तिकी आशङ्का है।' मुसल्मानोंकी ओरसे एकाध आदमी झाँकी देकर चला गया। बोझ ढोनेमें काफी समय लग गया। जब एकाध बोझ रह गया, तब मेरा एक धोबी मित्र आया और वह मुझे वहाँसे खींच ले चला। मैं उसके साथ चला कि वह विशाल मूर्ति ओझल हो गयी और चारों ओरसे 'अल्ला हो अकबर' का नारा लगाते बाईस मुसल्मान नौजवान बर्छा-भालोंके साथ हमारे चारों ओर थे। हम कुछ सँभलें, इसके पहले वे धड़ाधड़ मेरे धोबी मित्रको मारने लगे और मुझे उठाकर सघन मकईमें ले गये। मेरे भाईको एक ओर पकड़ रखा। मैं आँखें बंदकर अब भी 'जै हनुमंत संत हितकारी' गुनगुना रहा था। इतनेमें ही बाहरसे आवाज आयी 'महावीर बजरंगबलीकी जय!' और कुछ मुसल्मान घबराये आये और बोले—क्या आप हिंदू-मुसल्मान-दंगा कराना चाहते हैं? मैंने कहा कि 'जल्दी मुझे जहाँसे उठाकर लाये हो, वहीं रख दो। नहीं तो अनर्थ हो जायगा।' उन्होंने वैसा ही किया और साठ-सत्तर जवान हिंदू, जो पड़ोसके गाँवसे मेरे वधका समाचार सुन आ जुटे थे, मेरे इशारेपर वहीं नौ-दो ग्यारह हो गये। बात यह हुई कि पड़ोसके हिंदू भाइयोंने मेरे मजदूरसे जब यह हाल सुना तब वे एकाएक जोशमें आ गये थे। पर मेरी तथा मुसल्मान भाइयोंकी एक दूसरी ही झाँकी आँखोंके सामने थी, जिसके बल आज भी ये मुसल्मान भाई मेरे सहयोगी बने हुए हैं। अस्तु, 'एक भरोसा एक बल' बन जानेपर हरिका कोई भी नाम चमत्कार कर सकता है। जरूरत है दीनताकी तथा विश्वासकी।*

(२)

प्रत्युपकारके लिये अद्भुत त्याग

देश-विभाजनके पूर्व मेरे परम मित्र ········लाहौर,

* श्रीरामरक्षास्तोत्र एवं हनुमानचालीसाके सम्बन्धमें बहुतसे लाभ प्राप्त होनेके अनुभव हमारे पास और भी आये हुए हैं। —सम्पादक

ऐकाउन्टेन्ट-जनरल कार्यालयमें आडीटर थे । इनका जीवन बहुत सादा था—आठ पहरमें एक बार भोजन करना, ब्राह्ममुहूर्तमें जागना, स्नान करना और फिर ध्यानयोगमें लीन हो जाना । इनकी ऐसी दिनचर्या देखकर मैं इनकी ओर आकर्षित हुआ । बातों-ही-बातोंमें इन्होंने बताया कि वे जब छोटी अवस्थामें अनाथ हो गये, तब इनका केवल एक सहारा मामाजी रह गये, जो नारोवाल (स्यालकोट जिला) में अध्यापक थे । उन्होंने भानजेकी शिक्षाका प्रबन्ध किया और बी० ए० तक इन्हें पढ़ाया । फिर कलकत्तेमें आर्डिनैन्सडिपोमें काम दिलवाया । वहाँसे स्थानान्तरित होकर लाहौर आये । इनके मामाजी बहुत योग्य पुरुष थे और हिसाबके मास्टर होते हुए संस्कृत, उर्दू, फारसीके भी विद्वान् थे । उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीताका उर्दू नज्ममें अनुवाद किया था, जिसकी एक प्रति मेरे पास भी है । समय व्यतीत होता रहा, लाहौर आनेसे पहले इनके मामा कठिन रोगसे ग्रस्त हो गये । उनकी सेवाके लिये वे कलकत्तेसे नारोवाल आये और खूब तन-मन-धनसे सेवामें लग गये । परंतु उनके जीवनकी समाप्तिका समय समीप आ गया था । इस कारण सभी ओषधियाँ और चिकित्साएँ रोग-निवारणमें असमर्थ ही रहीं । एक रात्रिको जब वे अकेले थे, तब उन्होंने अपने भानजेको पास बुलाकर कहा—'बेटा ! मैंने तुम्हारी यथाशक्ति सेवा की है । अब मैं इस असार संसारसे विदा हो रहा हूँ । मेरी एक अन्तिम इच्छा है, यदि तुम उसे पूर्ण कर सको तो मैं प्रसन्नतासे इस शरीरको छोड़ सकूँगा ।'·········जीके नेत्र अश्रुओंसे भर गये और उन्होंने गद्गद वाणीसे कहा—'मामाजी ! एक इच्छा क्या, मैं तो आपपर अपना जीवन भी न्यौछावर करनेको तैयार हूँ । यदि मुझे यह शुभ अवसर प्राप्त हो तो मेरे-जैसा कौन सौभाग्यशाली हो सकता है ?' 'बेटा ! प्रसन्न रहो । मुझे तुमसे यही आशा थी ।' मामाजीने कहा । 'तुम जानते ही हो मेरे ऊपर ऋणका बड़ा भार है । आय थोड़ी होने और तुम्हारी मामीके रोगग्रस्त रहनेके कारण मैं अपनी जिंदगीमें ऋणसे मुक्त नहीं हो सका । अतः मैं यह चाहता हूँ कि मेरा यह ऋण तुम अपनी आयसे पूरा चुका दो ।' इन्होंने तुरंत ही अपना दायाँ हाथ उनके दायें हाथमें देकर प्रतिज्ञा कर डाली कि मैं जबतक आपका ऋण न उतार डालूँगा, तबतक आराम नहीं करूँगा । मामाजीके चेहरेपर हर्षकी रेखा दौड़ गयी और कुछ ही समयके पश्चात् उनके प्राणपखेरू उड़ गये । अब इनकी परीक्षाका समय आ पहुँचा । इनके ऊपर दो मामियोंके और अपनी पत्नीके पालन-पोषणका भार था । विचारवान् तो ये थे ही । सोचते-सोचते इस परिणामपर पहुँचे कि यदि मैं गृहस्थके चक्करमें फँस गया और अपने बाल-बच्चोंके लालन-पालनमें लग गया तो स्वर्गीय मामाजीके सामने जो प्रतिज्ञा ऋण उतारनेकी की थी, वह पूर्ण न होगी । अतः ये कलकत्तेके एक प्रसिद्ध बंगाली महोदयके पास गये और प्रार्थना की कि मुझे बच्चा पैदा करनेके अयोग्य बना दिया जाय । उन दिनोंमें परिवार-नियोजनकी योजना नहीं थी । डाक्टरसाहब एक नवयुवकके मुखसे ऐसी अद्भुत बात सुनकर चकित रह गये । उन्होंने कहा कि 'मेरे पास फिर एक महीनेके बाद आना ।' महीना पूरा होनेपर जब ये फिर डाक्टरके पास पहुँचे तब फिर डाक्टरजीने कहा—'पंद्रह दिनके बाद आना ।' पंद्रह दिनोंके पश्चात् फिर ये गये तो डाक्टरने इन्हें अपने इरादेमें पक्का देखकर पोटैशियम परमैंगनेट (Postassium Permanganate) चालीस दिन खानेको कहा और साथ ही यह भी कह दिया कि एक बार ऐसा करनेके बाद फिर वे पहली स्थितिमें कदापि नहीं आ सकेंगे ।·········जीने इस कोर्सको पूरा किया और स्वयं कामवृत्तिको तिलाञ्जलि दे दी । अब इन्होंने अपनी धर्मपत्नीसे कहा कि अब हम-तुम पति-पत्नीके रूपमें

नहीं रह सकेंगे। यदि तुम्हें मित्रतासे रहना हो तो बतलाओ, नहीं तो अपना हक लेकर पुनर्विवाह कर लो। वह देवी भी तप और त्यागकी मूर्ति थी, उसने कहा कि 'मैं तो आपके सङ्ग ही रहकर जीवन व्यतीत करूँगी।' बस फिर क्या था। दोनों मामियोंकी, अपनी धर्मपत्नी और माताकी सेवा करते हुए इन्होंने कुछ ही वर्षोंमें अपने स्वर्गीय मामाजीका सारा ऋण पाई-पाई चुका दिया। धन्य हैं ऐसे महापुरुष, जो पवित्र सेवा-यज्ञमें अपने जीवनके सारे सुख, आराम तथा आनन्दकी आहुति देकर आदर्श उदाहरण उपस्थित करते हैं।

—योगेन्द्रराज भंडारी बी० ए०

(४)

मानवताका पुजारी

गत ई० स० १९५६ में भाषावादके ठेकेदारोंने बम्बईमें बड़ा फसाद फैलाया था। जगह-जगह लूट-पाट और तोड़-फोड़ चल रही थी। इस प्रकारका दंगा होनेपर भी कुछ लोग कौतूहलवश शहरमें कहाँ कैसा दंगा हो रहा है, इसे देखने जा रहे थे। मैं भी फ्लोराफाउन्टेन और म्यूजियमकी ओर दंगा देखने गया था। शामको लगभग चार-पाँच बजे मैं घर आनेके लिये बसपर सवार हुआ। हमारी वह बस दो या तीन स्टाप ही गुजरी थी कि सामनेसे डेढ़-दो-सौ लोगोंका समूह आता दिखायी दिया········। समीप आकर उन्होंने बस रुकवा दी। इसी बीचमें ड्राइवर अपनी जान बचानेके लिये बस छोड़कर भाग गया; परंतु उसी समय बसमेंसे एक तरुण जल्दीसे उठा और उसने बसका संकटकालीन द्वार खोलकर सबसे कहा—'आपलोग तुरंत इस मार्गसे बाहर निकल जाइये, तबतक मैं इस टोलेको रोके रखता हूँ।' इतना कहकर वह जवान बसके दरवाजेके पास गया और उसने दरवाजेका हैंडल पकड़कर अंदर घुसते टोलेको रोक लिया। इधर जिसको जो रास्ता दिखायी दिया, उसी ओर सब लोग भाग गये; परंतु उनमेंसे किसीके भी मनमें यह विचार नहीं आया कि हमलोगोंकी रक्षाके लिये जिसने बसके अंदर घुसते हुए समूहको रोक रक्खा, उसकी क्या दशा होगी? अवश्य ही उन्हीं लोगोंमें मैं भी था; क्योंकि उस समय मुझे अपने प्राणोंकी लगी थी।

दूसरे दिन सबेरे समाचारपत्र पढ़नेको उठाया तो उसमें पहले ही पृष्ठपर बड़े-बड़े टाइपोंमें छपे शीर्षकपर मेरी दृष्टि अटक गयी। लिखा था—'फ्लोरा फाउन्टेनपर जलायी गयी बस, मुसाफिरोंकी भगदड़, एक युवकको भयंकर चोट, अस्पतालमें उसकी चालू बेहोशी····' पढ़कर मेरे शरीरमें एक क्षीण-सी कँपकपी छूट गयी। मेरा मन कहने लगा—'यह वही युवक तो नहीं है, जिसने हमलोगोंको बसमेंसे बचाकर निकाला था। उसी समय मेरे मनमें उस युवकसे मिलनेकी उत्कण्ठा बढ़ गयी और मैं अस्पतालकी ओर चल पड़ा। वहाँ जाकर मैंने जो कुछ देखा, उससे मेरे पैर वहीं रुक गये। हाय! यह वही युवक है, जिसने बसमें हमलोगोंको बचाया था।' इस समय उसको होश था, मैंने उससे तबीयतके बारेमें पूछा। परंतु वह बोल नहीं पा रहा था। इससे उसने आँखके इशारेसे मुझे पास बुलाया। मैंने उसके पास जाकर नाम पूछा। उसने बड़ी मुश्किलसे बहुत धीमे स्वरमें कहा—'आनंद'। मैंने कहा—'आपके घरवालोंको पता लगा है कि नहीं?' उसने 'न'कारमें सिर हिलाया। 'मुझे पता दीजिये, मैं उनको खबर दूँगा—'मैंने कहा।

तकियेके नीचेसे कागज निकालते हुए बहुत ही धीमी तथा रूँधी आवाजसे उसने कहा—'यह········मे········रा········पता········है, हो········सके तो····तार देकर वहाँ जना दीजिये—कि तुम्हारा आनंद मृत्युको प्राप्त' इतना कहते-कहते ही उसका मस्तक ढुलक गया और उसके प्राणपखेरू इस स्वार्थी जगतका त्याग करके उड़ गये। इसी समय डाक्टरने कमरेमें

प्रवेश करके उसे चद्दर उढ़ा दी। इस करुणाको देखकर मेरे हृदयको धक्का लगा और सहसा मेरे मुखसे निकल पड़ा—'चला गया मानवताका पुजारी।'

—'अखण्ड आनन्द' अर्जुन एल्० राठौड़

(५)

सबल वायुजनित सिरदर्दकी दवा

सबल वायुके कारण नेत्रशूल होकर सिरमें भयानक दर्द होता है और इस रोगसे पीड़ित मनुष्य सदाके लिये नेत्रहीन हो जाता है। एक तेल इस रोगकी अचूक दवा है, इससे बहुत-से रोगी रोगमुक्त हो चुके हैं। नुस्खा नीचे लिखा जाता है; पर कोई भी सज्जन इससे पैसे पैदा करनेकी चेष्टा न करें। विशुद्ध सेवाभावसे ही इसका प्रयोग करना-कराना चाहिये। नुस्खा निम्न-लिखित है—

हल्दी, राल, लोबान, असली कपूर, कचूर, इलायची सफेद, मैनफल, छरीला, लौंग, बालछड़ सुगन्धवाला, लाख पीपल—प्रत्येक एक तोला; नागरमोथा, रतनजोत—प्रत्येक दो-दो तोले तथा केसर असली एक आनाभर एवं कस्तूरी दो रत्ती। केसर, कस्तूरी और कपूर—इन तीन चीजोंके अतिरिक्त शेष सब चीजोंको कूटकर रख ले। फिर शुद्ध काले तिलका दो सेर तेल कढ़ाईमें डालकर उसमें कूटी हुई सब चीजें मिला दे और मन्द-मन्द आँच-से पकाये। जब तेल पककर तैयार हो जाय, तब उतारकर उसे कपड़ेसे छान ले। तदनन्तर ठंढा होनेपर उसमें कपूर, केसर और कस्तूरीका चूर्ण मिला दे। बस, तेल तैयार हो गया। इस तेलको रोज धीरे-धीरे सिरमें मालिस करो। कुछ ही दिनोंमें नेत्रशूल और सिरदर्द मिट जायगा।

—सत्यनारायण शुक्ल, स्थान सरोसा प्राचीन, पो० सदना, जिला सीतापुर

नेति-नेति

कहाँ है, क्या है, कैसा है, सत्य—कब क्या किसने जाना?
वहाँ है, वह है, वैसा है, तथ्य जिसने जैसा माना॥
दृष्टिगुण जैसा हो जिसका, उसे वैसा ही दिखता है;
ज्ञानधन जितना, हो जिसका, लेख उतना ही लिखता है॥
कनकके जैसे रूप अनेक—मुद्रिका, कङ्कण, मणिमय हार।
तत्त्व वह अमर चिरंतन एक, विविध गुण रूप नाम आधार॥
अगोचर निर्विकार द्रष्टा, प्रेममय, दयालु वा न्यायी?
विश्वसंयोजक वा स्रष्टा, विनाशक, चालक वा स्थायी?
दुख-सुख, प्रकाश-अंधकार, विभव-दारिद्र्य, द्वेष ममता,
द्वन्द्वमय जगका यह व्यापार तन्त्रसे सब किसके चलता?
ज्ञान, वैराग्य, भक्ति-पथ वा? साध्य है वह किस साधनसे?
लक्ष्य क्या—स्वर्ग, मोक्ष अथवा? प्राप्य तप वा आराधनसे?
प्रश्न-उत्तर-विरहित वह कौन? थके सब ऋषि-मुनि-पण्डितवर।
वेद भी हुए हारकर मौन, अन्तमें 'नेति-नेति' कहकर॥

—काशीनाथ बलवंत माचवे

प्रेमी ग्राहकोंकी सेवामें एक निवेदन

जनताको 'कल्याण' तथा गीताप्रेसकी पुस्तकें सस्ते दामोंमें मिलती रहें तथा 'कल्याण'के ग्राहकोंको प्रतिवर्ष रुपये भेजनेकी असुविधा न रहे, इसलिये आजीवन सदस्यकी भाँति 'आजीवन ग्राहक' बनानेकी योजना चालू की गयी है।

जो प्रेमी सज्जन गीताप्रेस तथा 'कल्याण'की आर्थिक सहायता करना चाहें, वे स्वयं आजीवन ग्राहक बनकर तथा अपनी शक्ति और इच्छाके अनुसार जिन लोगोंके पास पैसे नहीं हैं, परंतु जो 'कल्याण' पढ़ना चाहते हों ऐसे लोगोंको आजीवन ग्राहक बनाकर यह कार्य कर सकते हैं। इससे सत्साहित्यका प्रचार होगा।

'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बननेके नियम

(१) एक साथ एक सौ रुपये देनेवाले सज्जन 'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बनाये जाते हैं। जो लोग चालू वर्षका वार्षिक मूल्य रु० ७.५० भेज चुके होते हैं, वे ९२.५० और भेजकर आजीवन ग्राहक बन सकते।

(२) जो सज्जन प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहें, उन्हें १२५.०० (एक सौ पचीस रुपये) भेजने चाहिये।

(३) भारतवर्षके बाहर (विदेश) के महानुभावोंके लिये आजीवन-ग्राहक-मूल्य १२५.०० या १० पौंड है। सजिल्दका १५०.०० या १२ पौंड है।

(४) आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा, उनको प्रतिवर्ष 'कल्याण' मिलता रहेगा। उनके पीछे उनके उत्तराधिकारियोंको नहीं मिलेगा और किसी कारणवश 'कल्याण' बंद हो जानेपर भी नहीं मिलेगा। दोनों ही हालतमें रुपये 'गीताप्रेस'के स्थायी कोषमें सम्मिलित हो जायँगे और प्रकारान्तरसे यह उनके द्वारा गीताप्रेसके सत्साहित्य-प्रचारकार्यमें सहायता हो जायगी।

(५) मन्दिर, आश्रम, पुस्तकालय, मिल, कारखाना, उत्पादक या व्यापारी-संस्था, क्लब या अन्यान्य संस्था तथा फर्मको भी आजीवन ग्राहक बनाया जा सकता है।

कल्याणके पुराने अङ्कोंकी की हुई माँगका स्पष्टीकरण

निवेदन है कि हिंदू-संस्कृति-अङ्क, शिवपुराणाङ्क, ब्रह्मवैवर्त्तपुराणाङ्क, मानवताङ्क और संतवाणी-अङ्क तो 'कल्याण'-कार्यालयके स्टाकमें हैं। ग्राहकगण इनके विज्ञापन समय-समयपर पढ़ते ही हैं। पहलेके भी साधारण फुटकर अङ्क नहीं चाहिये। केवल विशेषाङ्क या विशेषाङ्कसहित पूरे फाइल आवश्यक हैं। इनमें भी भगवन्नामाङ्क, भक्ताङ्क, गीताङ्क, रामायणाङ्क, कृष्णाङ्क, ईश्वराङ्क, शिवाङ्क, शक्ति-अङ्क, योगाङ्क, मानसाङ्क, गीतातत्त्वाङ्क, साधनाङ्क, भागवताङ्क, महाभारताङ्क पूरी फाइल, पद्मपुराणाङ्क पूरी फाइल, गो-अङ्क, नारी-अङ्क, उपनिषद्-अङ्क, तीर्थाङ्क और योगवाशिष्ठाङ्ककी विशेष माँग है। ये अङ्क या इनके सहित उस वर्षकी पूरी फाइल अच्छी हालतमें किन्हींके पास हों और वे लागत मूल्यपर देना चाहते हों तो कृपया डाकसे या अधिक अङ्क हों तो रेलपारसलसे भेज दें। मूल्य लिख दें। मूल्य और डाक या रेलखर्च यहाँसे अङ्क मिलनेपर भेज दिया जायगा। इनके अतिरिक्त दूसरे अङ्कोंको बिना पूछे कृपया न भेजें।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, गोरखपुर

रजि० सं० एल्० १७५

गीताभवन-ऋषिकेश-सत्सङ्गकी सूचना

श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका विचार स्वास्थ्य ठीक रहा तो, अधिक चैत्र वदी ३ ता० ३१ मार्च १९६४ के लगभग गीताभवन (स्वर्गाश्रम) पहुँचनेका है। सदाकी भाँति आषाढ़ सुदी १५ के लगभग तक उनका वहाँ ठहरनेका विचार है।

गीताभवन 'सत्सङ्ग'में जानेवालोंको ऐश-आरामकी या केवल जलवायु-परिवर्तनकी दृष्टिसे न जाकर सत्सङ्गके उद्देश्यसे ही जाना चाहिये तथा सत्सङ्गमें अधिक-से-अधिक भाग लेना चाहिये।

नौकर-रसोइया आदि यथासम्भव साथ लाना चाहिये। ऋषिकेशमें नौकर-रसोइया मिलना कठिन है। स्त्रियाँ पीहर या ससुरालवालोंके साथ अथवा अन्य किसी सम्बन्धीके साथ ही जायँ। अकेली न जायँ एवं अकेली जानेकी हालतमें यदि स्थान न मिल सके तो दुःख नहीं करना चाहिये। गहने आदि जोखिमकी चीजें साथ नहीं रखनी चाहिये। बच्चोंको वे ही लोग साथ ले जायँ, जो उन्हें अलग डेरेपर रखनेका प्रबन्ध कर सकते हों; क्योंकि बच्चोंके कारण सत्सङ्गमें विघ्न होता है। खान-पानकी चीजोंका प्रबन्ध यथासाध्य किया जाता है, किंतु दूधका प्रबन्ध होना कठिन है।

'कल्याण' नामक हिंदी मासिकपत्रके सम्बन्धमें विवरण

फार्म चार—नियम-संख्या—आठ

१–प्रकाशनका स्थान—गीताप्रेस, गोरखपुर

२–प्रकाशनकी आवृत्ति—मासिक

३–मुद्रकका नाम—मोतीलाल जालान
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय
पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

४–प्रकाशकका नाम—मोतीलाल जालान
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय
पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

५–सम्पादकका नाम—(१) हनुमानप्रसाद पोद्दार,
(२) श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
दोनोंका राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय
दोनोंका पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

६–उन व्यक्तियोंके नाम-पते जो इस समाचार-पत्रके मालिक हैं और जो इसकी पूँजीके भागीदार हैं। — श्रीगोविन्दभवनकार्यालय, पता–नं० ३०, बाँसतल्ला गली, कलकत्ता (सन् १८६० के विधान २१ के अनुसार रजिस्टर्ड धार्मिक संस्था)

मैं मोतीलाल जालान, इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारी और विश्वासके अनुसार यथार्थ हैं।

मोतीलाल जालान

दि० १ मार्च १९६४

प्रकाशक